चारित्र चूड़ामणि, समता विभूति,

धर्मपाल प्रतिबोधक,

समीक्षण ध्यानयोगी, जिनशासन प्रद्योतक

प्रात: स्मरणीय

आचार्य श्री नानालाल जी महाराज

के

युगान्तरकारी कृत्तित्व

एवं

ओजस्वी व्यक्तित्व

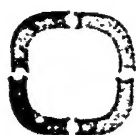
को

सादर सविनय समर्पित

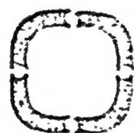
डागा परिवार

समता के स्वर—एक

निर्ग्रन्थ-परम्परा में चैतन्य आराधना



आचार्य श्री नानेश



प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.)

समता के स्वर—एक

प्रथम संस्करण—१९९७ (२१००) प्रतियाँ

निर्ग्रन्थ-परम्परा में चैतन्य आराधना

आचार्य श्री नानेश

मूल्य—10 रुपये

अर्थ सहयोगी—
सेठ शेरमल फतेचन्द डागा ट्रस्ट
गंगाशहर (बीकानेर)

प्रकाशक—
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर—३३४००५

कवर सेटिंग—
अमित कम्प्यूटर्स, बीकानेर

मुद्रक—
जैन आर्ट प्रेस
मता भवन, बीकानेर

प्रकाशकीय

वर्तमान भोगवादी संस्कृति में जी रहा मानव आज परिग्रह एवं विज्ञान प्रदत्त सुविधाओं में सुख मानकर बाहरी आकर्षण से दिग्भ्रान्त है। विडम्बना है कि सच्चा सुख आत्मा के भीतर विद्यमान होते हुए भी हम बाह्य परिधि में भटक कर अटक गये हैं और स्व-भाव से हटकर पर-पदार्थों में सुख मान बैठे हैं, जो सुखाभास मात्र है। परिणामतः तनाव, संघर्ष व अशान्ति के कारण व्यक्ति स्वयं में भीड़ और भीड़ में अकेला है। प्रकाश का अजस्र स्रोत हमारे भीतर स्थित है जबकि हम बहिर्मुखी होने के कारण मृग मरीचिका से ग्रस्त हैं। वास्तविकता तो यह है कि हमें प्रकाश प्राप्त करने व इसे प्रसारित करने के लिए जड़ तत्त्व से ध्यान हटा कर चैतन्य से जुड़ कर मन का अन्धकार निष्कासित करना होगा; तभी सत् चित्त आनन्द का समन्वित रूप प्राप्त हो सकेगा।

आचार्य श्री नानेश की प्रस्तुत कृति **"निर्ग्रन्थ-परम्परा में चैतन्य आराधना"** उनके उद्बोधनों से उनके आज्ञानुवर्ती सन्त-सती वर्ग द्वारा ही गुम्फित निर्झरिणी है, जिसमें प्रवाहित है उनकी पीयूष वाणी। इसमें अवगाहन कर कोई भी साधक व पाठक चेतना का ऊर्ध्वारोहण करने में समर्थ हो सकता है। आवश्यकता है अपने भीतर की चेतना को जाग्रत करने की, जड़ता को भगाने की और क्रोध, अहं, मद, ममत्व की ग्रन्थियां तोड़कर निर्ग्रन्थता की ओर अग्रसर होने की।

इस चैतन्य आराधना का स्वरूप स्पष्ट करने हेतु आचार्य-प्रवर ने श्रमण संस्कृति व निर्ग्रन्थ-परम्परा का क्रमबद्ध वर्णन किया है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति में श्रमण संस्कृति का गौरवपूर्ण व प्रधान स्थान है, जिसमें समत्व भावना ही केन्द्रस्थ बिन्दु है। श्रमण शब्द का मूल 'सम' से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है—जो अपनी मनःस्थिति को सदा सम रखता है और जिसके मन में समता की सुरसरि प्रकटमान

है वही समण या श्रमण है क्योंकि समता ही श्रमण संस्कृति का प्राण है। निर्ग्रन्थ के वास्तविक धरातल को प्राप्त करने हेतु आचार्य श्री ने सविस्तार बताया है कि आत्म शक्तियों की जागृति हेतु अन्दर व बाहर समत्व की स्थापना करने पर ग्रन्थि विमोचन अपेक्षित है।

अनेक आगम सूत्रों व वैज्ञानिक तथ्यों का आलोड़न कर आपने सिद्ध किया है कि अणगार के लिये तेजस्काय व वायुकाय की विराधना से विरत होना साध्वाचार में सम्मिलित है। साथ ही आपने विश्लेषण पूर्वक बताया है कि आज अक्षुण्ण रूप में प्रवहमान निर्ग्रन्थ परम्परा का साधुमार्ग से गहन सम्बन्ध है क्योंकि इसके अन्तर्गत निर्ग्रन्थ की आराधना को चैतन्य की आराधना से जोड़ते हुए जड़ आराधना को निराधार व निर्मूल निरूपित किया गया है। चैतन्य ही जैन–आराधना का मूलाधार है, जो अमूर्त, अरूपी, सत् चित्त आनन्द घन रूप है। इसी सन्दर्भ में आपने स्पष्ट किया है कि पंच परमेष्ठी की आराधना चैतन्य गुण निष्पन्न चैतन्य आराधना है। चैतन्य शक्तियों को उजागर करने हेतु इन्हें नमस्कार किया गया है और इनको नमस्कार करने से निराकार निरंजन अवस्था का मार्ग प्रशस्त होता है। साध्वाचार का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए आपने आचार्य द्वारा अपने उत्तराधिकारी के चयन/मनोनयन को भी शास्त्रों के सन्दर्भों से पुष्ट किया है।

निस्संदेह आचार्य श्री बहुज्ञ–विश्रुत चिंतक हैं और साधना की पूर्णता व श्रमणाचार के प्रतीक भी। आपने दार्शनिक तत्त्व पर सरल-सुबोध शैली में उद्बोधन प्रदान किया है, जिसे आपके आज्ञानुवर्ती सन्त-सती वर्ग ने संकलित करने का सार्थक व सफल प्रयास किया है। हम आचार्य भगवन् के प्रति कृतज्ञ व सन्त-सतियां जी के हृदय से आभारी हैं।

सेठ शेरमल फतेचन्द डागा ट्रस्ट, गंगाशहर के ट्रस्टीगण—सर्व श्री फतेचन्द जी, चम्पालाल जी, धनरराज जी, जेठमल जी, जयचन्दलालजी, कमलचन्दजी, विमलचन्दजी डागा—साधुवाद के अधिकारी हैं, जिनके अर्थ सौजन्य से इस कृति का प्रकाशन हुआ है। आशा है सत्साहित्य के प्रकाशन में संघ को इनका सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

श्री जैन आर्ट प्रेस के व्यवस्थापक श्री राजेन्द्र कुमार रामपुरिया, सम्बद्ध कर्मचारियों एवं श्री उदय नागोरी के भी हम आभारी हैं, जिनके सहयोग से पुस्तक का प्रकाशन अत्यल्प समय में सम्भव हो सका।

पूरा विश्वास है कि विद्वत् समाज, श्रद्धालुजन, विचारक एवं अनुसंधित्सुवर्ग इस कृति से लाभान्वित होंगे।

निवेदक,

गुमानमल चोरड़िया	सागरमल चपलोत	पीरदान पारख
अध्यक्ष	**महामंत्री**	**संयोजक**
इन्द्रचन्द वैद	भंवरलाल कोठारी	चम्पालाल डागा
सहसंयोजक	**उपाध्यक्ष**	**उपाध्यक्ष**
सरदारमल कांकरिया	केशरीचन्द सेठिया	मोहनलाल मूथा
नेमीचन्द तातेड़	कमल सिपानी	सायरचन्द छल्लाणी

सदस्यगण, साहित्य समिति श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ



पीठिका

जहां अपूज्यों की पूजा होती है और पूज्यों का निरादर होता है वहां तीन बातें होती हैं—

दरिद्रता, मृत्यु और भय!

अर्थसहयोगी परिचय

"निर्ग्रन्थ-परम्परा में चैतन्य-आराधना" का प्रकाशन धर्म/संघ समर्पित, उदारमना, शासननिष्ठ सुश्राविका स्व. धापूदेवी डागा धर्मपत्नी श्री फतेचन्द जी डागा, गंगाशहर की स्मृति में उनके सुपुत्रों—सर्व श्री चम्पालाल जी, धनराज जी, जेठमल जी, जयचन्दलाल जी, कमलचन्द जी, विमलचन्द जी डागा ट्रस्टीगण — शेठ शेरमल फतेचन्द डागा ट्रस्ट, द्वारा प्रदत्त धन राशि से किया जा रहा है। सत्साहित्य प्रकाशन व समाज सेवा में डागा परिवार की अग्रणी भूमिका रही है। आपका सम्पूर्ण परिवार परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानेश व युवाचार्य प्रवर के प्रति अनन्य श्रद्धानिष्ठ हैं।

सुश्राविका धापूदेवी डागा का साधु-साध्वियों के प्रति अत्यन्त लगाव था। वे सामायिक साधना, व्रत पच्चक्खाण व प्रतिदिन प्रवचन सुनने में सदैव अग्रसर रहती थी। उनका जीवन धार्मिक संस्कारों से ओतप्रोत था।

श्री फतेचन्द जी डागा सरलता, सादगीमय जीवन व्यतीत करते हुए, धर्माचरण को सदैव प्राथमिकता देते हैं। प्रतिदिन प्रवचन-श्रवण से लाभान्वित होते हैं व ४–५ सामायिक करते हैं।

आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री चम्पालाल जी डागा सम्प्रति श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ के उपाध्यक्ष व श्रमणोपासक के सम्पादक हैं। पूर्व में महामंत्री, मंत्री, सहमंत्री व कोषाध्यक्ष आदि सभी पदों को सुशोभित करते हुए वर्षों तक संघ के केन्द्रीय कार्यालय का सुसंचालन किया है। आप गंगाशहर–बीकानेर की कई सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक संस्थाओं में पदाधिकारी व सदस्य हैं।

श्री धनराज जी डागा एक अग्रणी उद्योगपति हैं व संघ के पूर्व उपाध्यक्ष रह चुके हैं। श्री जेठमलजी व जयचन्दलाल जी डागा बंगलोर की कई सेवा संस्थाओं से सम्बद्ध हैं। श्री कमलचन्दजी दिल्ली

संघ में महामंत्री हैं व संघ के वर्षों से शाखा संयोजक है। श्री विमलचन्द जी सामाजिक, राजनैतिक व कई संस्थाओं से जुड़े हुए हैं। आपका वहुआयामी व्यवसाय भारत के विस्तीर्ण क्षेत्र में परिव्याप्त है।

आपने अपनी मातुश्री की स्मृति में गंगाशहर में वालिका विद्यालय का निर्माण कराया है व पूज्य गुरुदेव की जन्म स्थली दांता-नानेशनगर में हाई स्कूल भवन का निर्माण कराया है। इसके अतिरिक्त अतिथि भवनों में कमरे, उदयपुर के गणेश जैन छात्रावास में कमरा आदि वनाने में सहयोग प्रदान किया है।

सेठ श्री फतेचन्द जी सा. की सुपुत्री सूरजदेवी सिपानी भी धर्मनिष्ठ सुश्राविका है। आपके दामाद श्री रिधकरन जी सिपानी संघ के अध्यक्ष पद को सुशोभित कर चुके हैं।

परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर की यह कृति डागा परिवार के अर्थ सहयोग से प्रकाशित कर सुधी पाठकों के हाथों प्रस्तुत कर रहे हैं। आचार्य भगवन् के सूत्र शब्दों को जीवन में उतार कर भव्य प्राणी अपना उत्थान करें यही शुभ कामना है।

अर्थ–सहयोगी डागा परिवार के प्रति आभार !

पीरदान पारख
संयोजक
साहित्य समिति



आचार्य श्री नानेश

जन्म स्थान—	दांता
जन्म तिथि—	सं. १९७७ जेठ शुक्ला २
पिता—	श्री मोड़ीलाल जी पोखरना
माता—	श्रीमती शृंगार बाई
दीक्षा तिथि—	कपासन सं. १९९६ पौष शुक्ला ८
युवाचार्य पद स्थान—	उदयपुर
युवाचार्य पद तिथि—	सं. २०१९ आसोज शुक्ला २
आचार्य पद स्थान—	उदयपुर
आचार्य पद तिथि—	स. २०१९ माघ बदी २

चिन्मयता के अगणित आयामों के उज्ज्वल प्रतीक श्रद्धा मेधा के आधार स्तम्भ आचार्य श्री नानेश

जैन श्रमण परम्परा के महान् श्रुतधर, ध्रुव नैष्ठिक क्रान्ति के उद्गाता, समता की साकार प्रतिमा, शाश्वत सुख सौरभ प्रदाता, परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री नानालाल जी म. सा. का व्यक्तित्व जो अलौकिक आलोकपुंज अन्तरलीन आत्मनिष्ठ समता, संयम, समीक्षण से अनुरंजित जीवन जिसमें साधना की अतुल गहराई है, ज्ञान की उच्चतम ऊंचाई है, चरित्र का अनुपम उजाला है, जिनके प्रवचन आगमिक विवेचन के साथ ही विश्व की तत्कालीन समस्याओं का सचोट समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं। दलित जनसमूह को जिन्होंने अपने समतायुक्त जीवन से संस्कारित कर धर्मपाल की संज्ञा से अभिव्यंजित किया है जो अपने आप में अनुपमेय है।

आचार्य श्री नें अपने आचार्यत्वकाल के ३५ वर्षों में लगभग ३२५ मुमुक्षु आत्माओं को संयम पथ पर आरूढ़ कर श्रेय पथ की अद्भुत प्रभावना की और संयम पथ की उपयोगिता सिद्ध की।

वीसवीं शताब्दी के महामनस्वी, महातपस्वी, महायशस्वी, महातेजस्वी, महामहिम ज्योतिपुंज आचार्य श्री नानेश को हृदय की हर धड़कन की परिणति के साथ कोटि-कोटि वन्दन। अभिवंदन।

—चम्पालाल डागा

निर्ग्रन्थ-परम्परा में चैतन्य आराधना

इस वैज्ञानिक युग में चारों ओर अशांति का वातावरण अधिक परिलक्षित हो रहा है। मानसिक संघर्ष भी प्रबल है। संघर्ष और अशांति के विषम प्रवाह में डूबता-उतरता मानव आज इतना तनावग्रस्त हो चुका है कि जिसका कारण खोजना वर्तमान के अधिकांश अनुसन्धानज्ञों के लिए अशक्य है, क्योंकि अशांति का कारण भीतर है और अनुसन्धानकर्ता उसे बाहर खोज रहे हैं। अशांति का प्रमुख कारण है—असहिष्णुता एकान्तवाद और विषमता आदि की वृत्तियां, जो कालुष्य और विषमता को जन्म देती हैं। फलस्वरूप मनुष्य तनाव से ग्रस्त होकर अशांति, आधि, व्याधि और कुण्ठाओं से युक्त बना निराशा का अनुभव करता है।

तनावग्रस्त मनुष्य इस मानसिक अस्वस्थता के साथ-साथ शारीरिक अस्वस्थता से भी युक्त बन जाता है। तनाव उत्पन्न करने वाली वृत्तियां सर्वप्रथम मनुष्य के मानसिक सन्तुलन को विषम बनाती हैं, फलतः मनुष्य धीरे-धीरे अनेक शारीरिक रोगों से घिर जाता है। अतः अपवर्तनीय आयुष्य वाला मनुष्य अपनी आयु को बन्धानुसार नहीं भोगकर स्वल्प समय में ही उसे पूर्ण कर लेता है। लेकिन इस कारण को आज तक चिकित्सक, वैद्य, हकीम आदि नहीं खोज पाये हैं, क्योंकि उनका स्थूल परीक्षण सूक्ष्म क्षेत्रों तक गतिमान नहीं होता है। परिणाम-स्वरूप स्थूल परीक्षण के आधार पर उनके द्वारा की गई चिकित्सा रोग का निदान तो नहीं कर पाती किन्तु रोगी को और अधिक संकट की स्थिति में डाल देती है।

जहां रोग का पूर्ण निदान न हो वहां रोग की उपशमना भी कठिन है। रोग आन्तरिक और औषधि बाहरी दी जाये तो व्याधि का शमन नहीं, विस्तार होता है। यह स्थिति वैसी ही है जैसे उस रोगी की होती है जो वैद्य के पास जाये और कहे "मेरे शरीर के

भीतर और बाहर जलन हो रही है और वैद्य दो पुड़िया उसके हाथ में थमाते हुए कहे, "इन दो पुड़िया को पानी में घोलकर विलेपन कर लेना, बाहर की जलन समाप्त हो जायेगी।" इस प्रकार रोगी जब भीतरी जलन की बात कहे, तब वैद्य भीतरी जलन के लिए और दो पुड़िया देते हुए कहे "इनको शहद में मिलाकर ले लेना तुम्हारी आन्तरिक जलन समाप्त हो जायेगी।" पुड़िया लेकर वह रोगातुर व्यक्ति घर पहुंचे और जो पुड़िया बाहर लगानी थी, वह शहद के साथ ग्रहण कर ले और जो पुड़िया शहद के साथ लेनी थी, उसका बाहर विलेपन कर ले तो उसके रोग का निदान तो होगा ही नहीं, वरन् उसकी जलन द्विगुणित हो जाएगी वह व्यक्ति पुनः वैद्य के पास जाये और वैद्य उचित परीक्षण करके बतलाये कि जो पुड़िया शहद के साथ खानी थी, उसका उसने शरीर पर विलेपन कर लिया तथा जो शरीर पर मलनी थी, उसका उसने शहद के साथ सेवन कर लिया। इस-लिए जलन बढ़ गयी और रोग दूर नहीं हुआ।

इस व्याधिग्रस्त व्यक्ति की तरह ही महनीय भूल आज के चिकित्सक कर रहे हैं। वे व्याधि कुछ और होती है और उपचार कुछ दूसरा ही करते हैं। फलतः रोग का निदान नहीं हो पाता है और मानव अशान्त व्याधि-ग्रस्त बना रहता है। इन व्याधियों का कारण और उपाय, जो आज व्याकुल, संतप्त मानव खोज रहा है, प्रभु महावीर ने उसको सहज रूप में शताब्दियों पूर्व ही बता दिया था। यदि महावीर का अनेकान्त-दर्शन, विचार एवं व्यवहार में आ जाये तो मनुष्य असहिष्णुता की कारा को तोड़ कर सहिष्णुता की सीमा में प्रविष्ट हो सकेगा और तनाव के कारण जितनी ग्रन्थियां बनी है उनका विमोचन कर सकेगा। अनेकान्त दृष्टि के बिना सत्य-तथ्य का ज्ञान नहीं होगा और सत्य-तथ्य के परिज्ञान के अभाव में असत् पदार्थों को ही सब कुछ मानने वाला मानव अवश्यमेव चिन्ताओं एवं तनावों से ग्रस्त रहेगा।

आज के अधिकांश मानव एकान्त रूप से धन-वैभव को ही सर्व-प्रमुख मानते हैं, फलतः वे तनाव-ग्रस्त हो जाते हैं। जब तक वे धन-वैभव पर रही हुई आसक्ति-रूप परिग्रह भावना का परित्याग नहीं करेंगे तब तक शान्ति की श्वांस नहीं ले पायेंगे। क्योंकि आसक्ति-

रूप परिग्रह का परित्याग ही सर्वतोभावेन शांति का स्रोत है। परिग्रह की जड़ें मानव-मस्तिष्क में इतनी गहरी चली गयी है कि उन्होंने चित्त की शान्ति को अशान्ति के झञ्झावातों से झकझोर दिया है। इसका दुष्परिणाम यह सामने आया कि जैसे ही अर्थ-हीन मनुष्य, अर्थ-सम्पदा सम्पन्न लक्ष्मी-पतियों को दृष्टिगत करता है। उनकी ऐश्वर्य-सम्पन्न भौतिक विलासिता की बातें श्रवण करता है वैसे ही विषय लोलुप इन्द्रियों से सम्बन्धित नाड़ियां यह ज्ञान उसके अपने ज्ञान-केन्द्रों तक पहुंचाती है और वहां निर्णय होता है कि वैभव सम्पन्न व्यक्ति अत्यधिक आराम-दायक और ऐश्वर्य-सम्पन्न जीवन जी रहा है, उसकी अपेक्षा मैं कष्टप्रद और भार-युक्त जीवन जी रहा हूं। मेरा अर्थाभाव-युक्त जीवन जब तक वैभव-सम्पन्न न बन जाये, तब तक निस्सार है।

इस प्रकार अर्थ-हीन अधिकांश व्यक्तियों को अर्थाभाव खटकता रहता है और वह वैभव प्राप्त करने के लिए अत्यातुर बना तनाव से ग्रस्त हो जाता है। यही विचार आसक्ति का रूप लेकर स्मृति प्रकोष्ठक में स्थायी रूप से अवस्थित हो जाता है। जैसे-जैसे यह विचार स्मृति-पटल पर उभरता है वैसे-वैसे उसको पोषण देने हेतु तथा अर्थ-सम्पन्न बनने के लिए मनुष्य आतुर हो जाता है और मुंह से झूठ बोलने, मन से छल-छद्म करने तथा अन्य इन्द्रियों से अनैतिक कार्य करने के लिए सन्नद्ध हो जाता है। मात्र धन-प्राप्ति की ग्रंथी उसका समूल आचार परिवर्तित कर किस प्रकार तनाव-ग्रस्त बनाती है, यह चिन्तन का विषय है।

इस प्रकार के तनाव-ग्रस्त व्यक्ति को कदाचित् अर्थ की सम्प्राप्ति न हो तो वह आजीवन अशान्त रहता है और यदि अर्थ की उपलब्धि हो भी जाये तो अनेक ग्रन्थियां अपने भीतर निर्मित कर लेता है जिनकी विषमतर प्रतिक्रिया होती है, क्योंकि सम्पत्ति प्राप्त करने के पश्चात् उसका अहं-भाव पुष्ट हो जाता है। वह सोचता है "ओह! मैं कितना कार्यशील, पुरुषार्थी एवं भाग्य सम्पन्न हूं जो मैंने अपना समीहित सम्प्राप्त कर लिया है" अपने इस अहंकार की सुरक्षा के लिए वह वैभव की सुरक्षा का पूर्ण प्रयास करता है तथा उसको क्षति पहुंचाने वालों के प्रति क्रोधादि कषायों का उपयोग करता

भीतर और बाहर जलन हो रही है और वैद्य दो पुड़िया उसके हाथ में थमाते हुए कहे, "इन दो पुड़िया को पानी में घोलकर विलेपन कर लेना, बाहर की जलन समाप्त हो जायेगी।" इस प्रकार रोगी जब भीतरी जलन की बात कहे, तब वैद्य भीतरी जलन के लिए और दो पुड़िया देते हुए कहे "इनको शहद में मिलाकर ले लेना तुम्हारी आन्तरिक जलन समाप्त हो जायेगी।" पुड़िया लेकर वह रोगातुर व्यक्ति घर पहुंचे और जो पुड़िया बाहर लगानी थी, वह शहद के साथ ग्रहण कर ले और जो पुड़िया शहद के साथ लेनी थी, उसका बाहर विलेपन कर ले तो उसके रोग का निदान तो होगा ही नहीं, वरन् उसकी जलन द्विगुणित हो जाएगी वह व्यक्ति पुनः वैद्य के पास जाये और वैद्य उचित परीक्षण करके बतलाये कि जो पुड़िया शहद के साथ खानी थी, उसका उसने शरीर पर विलेपन कर लिया तथा जो शरीर पर मलनी थी, उसका उसने शहद के साथ सेवन कर लिया। इस–लिए जलन बढ़ गयी और रोग दूर नहीं हुआ।

इस व्याधिग्रस्त व्यक्ति की तरह ही महनीय भूल आज के चिकित्सक कर रहे हैं। वे व्याधि कुछ और होती है और उपचार कुछ दूसरा ही करते हैं। फलतः रोग का निदान नहीं हो पाता है और मानव अशान्त व्याधि–ग्रस्त बना रहता है। इन व्याधियों का कारण और उपाय, जो आज व्याकुल, संतप्त मानव खोज रहा है, प्रभु महावीर ने उसको सहज रूप में शताब्दियों पूर्व ही बता दिया था। यदि महावीर का अनेकान्त–दर्शन, विचार एवं व्यवहार में आ जाये तो मनुष्य असहिष्णुता की कारा को तोड़ कर सहिष्णुता की सीमा में प्रविष्ट हो सकेगा और तनाव के कारण जितनी ग्रन्थियां बनी है उनका विमोचन कर सकेगा। अनेकान्त दृष्टि के बिना सत्य-तथ्य का ज्ञान नहीं होगा और सत्य-तथ्य के परिज्ञान के अभाव में असत् पदार्थों को ही सब कुछ मानने वाला मानव अवश्यमेव चिन्ताओं एवं तनावों से ग्रस्त रहेगा।

आज के अधिकांश मानव एकान्त रूप से धन–वैभव को ही सर्व-प्रमुख मानते हैं, फलतः वे तनाव-ग्रस्त हो जाते हैं। जब तक वे धन–वैभव पर रही हुई आसक्ति–रूप परिग्रह भावना का परित्याग नहीं करेंगे तब तक शान्ति की श्वांस नहीं ले पायेंगे। क्योंकि आसक्ति-

रूप परिग्रह का परित्याग ही सर्वतोभावेन शांति का स्रोत है। परिग्रह की जड़े मानव–मस्तिष्क में इतनी गहरी चली गयी है कि उन्होंने चित्त की शान्ति को अशान्ति के झञ्झावातों से झकझोर दिया है। इसका दुष्परिणाम यह सामने आया कि जैसे ही अर्थ–हीन मनुष्य, अर्थ-सम्पदा सम्पन्न लक्ष्मी-पतियों को दृष्टिगत करता है। उनकी ऐश्वर्य-सम्पन्न भौतिक विलासिता की बातें श्रवण करता है वैसे ही विषय लोलुप इन्द्रियों से सम्बन्धित नाड़ियां यह ज्ञान उसके अपने ज्ञान-केन्द्रों तक पहुंचाती है और वहां निर्णय होता है कि वैभव सम्पन्न व्यक्ति अत्यधिक आराम-दायक और ऐश्वर्य-सम्पन्न जीवन जी रहा है, उसकी अपेक्षा मैं कष्टप्रद और भार-युक्त जीवन जी रहा हूं। मेरा अर्थाभाव-युक्त जीवन जब तक वैभव-सम्पन्न न बन जाये, तब तक निस्सार है।

इस प्रकार अर्थ-हीन अधिकांश व्यक्तियों को अर्थाभाव खटकता रहता है और वह वैभव प्राप्त करने के लिए अत्यातुर बना तनाव से ग्रस्त हो जाता है। यही विचार आसक्ति का रूप लेकर स्मृति प्रकोष्ठक में स्थायी रूप से अवस्थित हो जाता है। जैसे–जैसे यह विचार स्मृति–पटल पर उभरता है वैसे-वैसे उसको पोषण देने हेतु तथा अर्थ-सम्पन्न बनने के लिए मनुष्य आतुर हो जाता है और मुंह से झूठ बोलने, मन से छल -छद्म करने तथा अन्य इन्द्रियों से अनैतिक कार्य करने के लिए सन्नद्ध हो जाता है। मात्र धन–प्राप्ति की ग्रंथी उसका समूल आचार परिवर्तित कर किस प्रकार तनाव-ग्रस्त बनाती है, यह चिन्तन का विषय है।

इस प्रकार के तनाव-ग्रस्त व्यक्ति को कदाचित् अर्थ की सम्प्राप्ति न हो तो वह आजीवन अशान्त रहता है और यदि अर्थ की उपलब्धि हो भी जाये तो अनेक ग्रन्थियां अपने भीतर निर्मित कर लेता है जिनकी विषमतर प्रतिक्रिया होती है, क्योंकि सम्पत्ति प्राप्त करने के पश्चात् उसका अहं-भाव पुष्ट हो जाता है। वह सोचता है "ओह! मैं कितना कार्यशील, पुरुषार्थी एवं भाग्य सम्पन्न हूं जो मैंने अपना समीहित सम्प्राप्त कर लिया है" अपने इस अहंकार की सुरक्षा के लिए वह वैभव की सुरक्षा का पूर्ण प्रयास करता है तथा उसको क्षति पहुंचाने वालों के प्रति क्रोधादि कषायों का उपयोग करता

है । इस कारण राग और द्वेष की जड़े, गहरी होती चली जाती है और धन के प्रति आसक्ति और अहंभाव की पुष्टि से अनेक ग्रन्थियों निर्मित हो जाती है इससे स्पष्ट सिद्ध है कि ग्रन्थी-निर्माण का प्रमुख कारण परिग्रह है । मकान, उपधि, नौकर जितने भी भौतिक परिग्रह दृष्टिगत होते हैं, वे समस्त बाह्य ग्रन्थी-रूप है तथा उनके पीछे निर्मित होने वाली राग, द्वेष, कषाय और आसक्ति की वृत्तियां आन्तरिक ग्रन्थी रूप है ।

अहंभाव और ममत्व जैसी ग्रन्थियों से युक्त मनुष्य के जीवन में मानसिक और शारीरिक व्याधि का प्रादुर्भाव होना सहज है । इन व्याधियों को शमित कराने में कोई भी ग्रन्थीवान् व्यक्ति सक्षम नहीं बन सकेगा क्योंकि जो स्वयं ग्रन्थी युक्त है । वह दूसरों को ग्रन्थी रहित कैसे बना पाएगा ? परिणाम स्वरूप व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व ग्रन्थियों से ग्रस्त बना अशांति के झूले में झूलता रहेगा ।

ग्रन्थियों का सम्पूर्ण विमोचन तीर्थंकर देव, केवल-ज्ञानी अतिशय-ज्ञानी कर सकते हैं । जो अनेकान्त-वाद के धरातल पर खड़े होकर समता और सहिष्णुता के माध्यम से जीवन यापित करते हैं । उदात्त अनैकान्तिक दृष्टिकोणों को अपनाकर ग्रन्थी विमोचन करने में सिद्ध-हस्त बनते हैं । वे वस्तु-सत्य का परिज्ञान कर आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह से निर्मित ग्रन्थियों का सर्व प्रथम विमोचन करते हैं । समता वृत्ति को जीवन का उद्देश्य बनाकर समीक्षण दृष्टि अपनाकर अज्ञान की विषम ग्रन्थियों का विमोचन कर तथा तनाव से रहित होकर वे आत्मिक शक्ति को प्राप्त करते हैं । वे ही तीर्थंकरादि महा-पुरुष ग्रन्थी विमोचन और मानसिक, शारीरिक व्याधियों को शमित करने का वास्तविक उपाय बतला सकते हैं ।

ग्रन्थी विमोचन करने वालों की क्षमता को दृष्टिगत कर ही प्रभु महावीर ने चार विभाग किये—साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका । जो ग्रन्थि विमोचन में उत्कृष्ट भावना से तत्पर हो, उसके लिए श्रमण-श्रमणी का मार्ग तथा जो सहजता धीरे-धीरे ग्रन्थि-मोचन करने के आकांक्षी हों, उनके लिए श्रावक-श्राविका का मार्ग, उन्होंने प्रस्तावित किया ।

साधुओं के लिए ग्रन्थि विमोचनार्थ उन्होंने हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह का परित्याग आवश्यक बतलाया। जब तक इन सभी से रहित अणगार नहीं होता, तब तक उसमें ग्रन्थियों का निर्माण स्वतः ही होता रहता है। परिणाम स्वरूप ग्रन्थि विमोचन किये बिना कोई भी अणगार "निर्ग्रन्थ" के वास्तविक धरातल को प्राप्त नहीं कर सकता है।

सग्रन्थ कैसे निर्ग्रन्थ बनें—इसके लिए प्रभु महावीर ने अत्यन्त उदार, विशाल और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया। उन्होंने सर्वप्रथम आत्म-शक्तियों को जागृत करने के लिए अन्तर और बाहर समत्व की स्थापना को श्रेष्ठतम समझा क्योंकि समत्व की स्थापना के बिना ग्रन्थि विमोचन नहीं होता और बिना ग्रन्थि विमोचन के वास्तविक सत्य का ज्ञान भी सम्भव नहीं होता। मानव ने महावीर की इस क्रान्तिकारी उदात्तवाणी को आचार में पूरी तरह नहीं उतारा। फल-स्वरूप मानसिक एवं शारीरिक विकृतियों और अशांति का उसे सामना करना पड़ रहा है। आज भी कोई ग्रन्थि-विमोचन का आकांक्षी समत्व-दर्शन से समन्वित आत्म-दर्शन करने का प्रयास करे और आसक्ति रूप ग्रन्थि का विमोचन करे तो वास्तविक शान्ति का अधिकारी बन सकता है।

जितने भी गृहस्थ साधक हैं, वे प्रायः आसक्ति रूप ग्रन्थि को समूल नष्ट नहीं करते, आरम्भ तथा परिग्रह से परिपूर्ण विरत नहीं होते एवं पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन भी नहीं करते। इसलिए उनमें ग्रंथियों का निर्माण होता रहता है। प्रभु महावीर ने इसीलिए गृहस्थ साधक को निर्ग्रन्थ की संज्ञा नहीं दी बल्कि सभी वैभव त्यागने वाले को ही निर्ग्रन्थ की संज्ञा से अभिहित किया है, क्योंकि गृह-त्यागी निर्ग्रन्थ अणगार अनेकान्त-वाद के उच्च धरातल पर गमन करता हुआ समत्व-भाव की स्थापना करता है, जैसा स्वयं की आत्मा के लिए सोचता है वैसा ही दूसरों की आत्मा के लिए भी सोचता है। वह इस बात पर अडिग रहता है कि यदि कोई मेरी मन, वचन और काया से हिंसा करे तो वह मुझे अच्छी नहीं लगती। उसी प्रकार यदि मैं दूसरों की हिंसा करूं तो वह भी उन्हें अच्छी नहीं लगेगी। अत दूसरों की हिंसा मैं मन, वचन, काया से न स्वयं करूं, न दूसरों से करवाऊं और न करते हुए को अच्छा समझूं। एतदर्थ निर्ग्रन्थ

अणगार अहिंसा महाव्रत अंगीकार करता है ।

कठोर, अप्रिय, असत्य और मर्मकारी वचन प्राणियों के मन को आघात पहुंचाने वाले, नैतिक आदर्श से पतित करने वाले और छल-छद्म जैसी दुष्प्रवृत्तियों एवं ग्रंथियों का निर्माण करने वाले होने के कारण निर्ग्रन्थ इनका परित्याग कर सत्य-महाव्रत को अपनाता है। जीवन की सार्थकता और नैतिकता की सुरक्षा के लिए वह अचौर्य महाव्रत भी स्वीकार करता है। सम्पूर्ण वासनाओं की ग्रंथियों का विमोचन करने के लिए वह ब्रह्मचर्य महाव्रत को तथा बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से विरत बनने के लिए अपरिग्रह महाव्रत को अंगीकार करता है। इन पांच महाव्रतों को स्वीकार किये बिना निर्ग्रन्थ अणगार वस्तुतः ग्रन्थि रहित नहीं बन सकता क्योंकि समस्त ग्रंथियों का निर्माण हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रह से होता है ।

इसलिए भगवान महावीर के साधुओं को ही श्रमण निर्ग्रन्थ कहा जाता है। बौद्धादि भिक्षुओं के लिए 'श्रमण' शब्द का ही प्रयोग किया जाता रहा है उनको 'निर्ग्रन्थ' इस विशेषण से सम्बोधित नहीं किया जाता था। जिस प्रकार की तीनकरण तीनयोग की अहिंसा का पालन भगवान महावीर के साधु करते हैं वैसी अहिंसा की परि-पालना अन्य मतावलम्बी बौद्धादि भिक्षु नहीं करते थे। इसका कारण यह है कि महात्मा बुद्ध स्वयं सर्वज्ञ नहीं थे उन्होंने स्वयं इस बात की घोषणा की कि मैं सर्वज्ञ नहीं हूं मुझे जो सर्वज्ञ कहता है वह झूठ बोलता है। सर्वज्ञत्व के अभाव में उन्होंने अपने साधकों को स्थूल हिंसा से ही बचने का उपदेश दिया। परिणाम स्वरूप बौद्ध श्रमण वाहनादि का उपयोग करते, जूते पहनते और मांस भक्षण भी करते थे। इस प्रकार बुद्ध के अनुयायी अहिंसा के परिपूर्ण मौलिक स्वरूप के ज्ञाता नहीं थे और न ही परिपूर्ण अहिंसा का पालन करते थे। इसका प्रमाण ऐतिहासिक पृष्ठों पर मिल सकता है। एक बार भारत के सुप्रसिद्ध हिन्दी साहित्य के लेखक राहुल सांस्कृत्यायन तिब्बत में महात्मा बुद्ध के साधकों का जहां मठ था वहां पहुंचे। वहां रहने वाली श्रमण-श्रमणियों के लिए खाद्य सामग्री बनने की व्यवस्था भी थी वे श्रमण-श्रमणियां उसी सामग्री को ग्रहण करते थे। राहुल जी ने उन श्रमण-श्रमणियों से बातचीत की और इस बात पर खुशी

जाहिर की महात्मा बुद्ध ने जिस यज्ञादि हिंसा का विरोध किया। वह बहुत श्रेष्ठ है। राहुल जी से अपने आराध्य बुद्ध की प्रशंसा सुनकर बौद्ध भिक्षु प्रसन्न हुए और राहुल जी से कहने लगे ओह ! आप तो भगवान बुद्ध के सिद्धान्तों की भी जानते हो इस बात की हमें बड़ी खुशी है। पर आज आप यहीं रुके और आज का भोजन हमारे मठ में ही करें।

राहुल जी ने कहा आपकी भावना प्रशस्त है परन्तु मैं मठ में भोज नहीं करूंगा।

पूछा क्यों ?

राहुल जी ने कहा कि आपके मठ में मांसादि पदार्थ भी पकते हैं और मैं मांस नहीं खाता अतः आपको भोजन की स्वीकृति नहीं दे सकता।

बौद्ध भिक्षुओं ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा ओह ! आप इतने त्यागी हैं। आप मांस तक नहीं खाते। खैर ……… आज आपके लिए मठ में प्रतिदिन बनने वाला भोजन नहीं बनवायेंगे।

बौद्ध भिक्षुओं द्वारा ऐसा कहे जाने पर राहुल जी ने भोजन वहीं करने की स्वीकृति दे दी और अन्यान्य कार्यों में लग गये। भोजन के समय पर वे बौद्ध भिक्षुओं के मठ में पहुंच गये और जैसे ही भोजन की थाली सामने आई, राहुल जी चौंक गये और कहा—'अरे मैंने पहले ही कह दिया कि मैं मांस नहीं खाता, लेकिन इस थाली में तो मांस का भोजन दिख रहा है।'

तब बौद्ध भिक्षुओं ने कहा—'आपने कल मांस खाने का निषेध किया था। हमने उस बात को ध्यान में रखा इसलिए भोजन सामग्री में मांस नहीं बनवाया।

राहुल जी ने कहा कैसे मांस नहीं है ? इसमें तो मेंढकों की साग पड़ी है। मेंढक का भी मांस होता है। मैं तो इसको खाता नहीं हूं।

तब बौद्ध भिक्षुओं ने अत्यन्त आश्चर्य अभिव्यक्त करते हुए

कहा ओह ! आप इतने त्यागी हैं। मेंढ़कों का साग भी नहीं खाते यह हमको ज्ञात नहीं था। यदि मेंढ़क की सब्जी में मांस की जानकारी होती तो हम उसका साग नहीं बनवाते। आपने कहा मांस नहीं खाता हूं, इसलिए हमने विशेष तौर से आपके लिए मेंढ़क मंगवाये थे और उनकी सब्जी बनवाई।

राहुल जी ने कहा कि जब मैंने मांस खाने का निषेध कर दिया तब आपने मेंढ़क क्यों मंगवाये ?

उन्होंने कहा—हम मेंढ़क का मांस नहीं समझते तब राहुल जी ने कहा मेंढ़क में, मैं मांस समझता हूं और मैं ऐसा मांसाहार नहीं करूंगा। राहुल जी ने उस समय वहां भोजन नहीं किया।

इस ऐतिहासिक उदाहरण से स्पष्ट है कि बुद्ध ने अपने साधकों को मेंढ़क में मांस होता है। मेंढ़क का आहार मांसाहार है ऐसा निरुपण नहीं किया अन्यथा बौद्ध भिक्षुओं को वैसी जानकारी अवश्य होती। आज भगवान महावीर को निर्वाण प्राप्त हुए इतनी लम्बी अवधि व्यतीत हो गयी तथा उन्होंने जो ज्ञान साधकों को दिया उसका आचरण आज भी उनके निर्ग्रन्थ श्रमण कर रहे हैं। उन्होंने अहिंसा की जो सूक्ष्म व्याख्या की वह आज भी उनके आगमों में मौजूद हैं।

प्रभु महावीर के साधु क्या श्रावक भी इस वात से परिचित है कि मेंढ़क का भोजन मांसाहार है श्रावकों के छोटे-२ वच्चे भी उस आहार को खाना तो दूर देखना तक पसन्द नहीं करते।

ऐसी सूक्ष्म अहिंसा का तीनकरण तीनयोग से पालन करने वाले भगवान के साधु ही वस्तुतः श्रमण निर्ग्रन्थ हैं। क्योंकि वे ही हिंसादि ग्रन्थि से रहित वन सकते हैं। जैसा कि निर्ग्रन्थ की परिभाषा करते हुए कहा गया है—

"जो सुवर्णादि द्रव्य ग्रन्थि और मिथ्यात्वादि भाव ग्रन्थियों से रहित हैं वे निर्ग्रन्थ हैं। वाह्य आभ्यन्तर ग्रन्थिरहित निर्ग्रन्थ जो जिनशासन में होने वाले परमेश्वर के प्रवचन को स्वीकार करने वाले निर्ग्रन्थ हैं।"

"कर्मों को ग्रहण करने में कारण रूप सावद्य सपाप रूप ग्रन्थि उस बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह रूप ग्रन्थि से रहित निर्ग्रन्थ है।"

"जो आभ्यन्तर ग्रन्थि से सर्वथा मुक्त नहीं है किन्तु उसको निग्रह करने में तत्पर हैं वे भी निर्ग्रन्थ हैं।"

"जो निर्ग्रन्थ सराग संयमवर्ती हैं वे भी संज्वलन कषाय के उदय का निरोध करने में तथा उदय प्राप्त को विफल कर क्षय करने में उद्यत है वे भी निर्ग्रन्थ हैं क्योंकि वे प्राप्त कषायों को निर्मूल करने में तत्पर होने के कारण निर्ग्रन्थ हैं।"

स्पष्ट है प्रभु महावीर की आज्ञा का आराधन करते वाले उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलने वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ हैं।

प्रश्न उठता है—

आज के इस भौतिक-वादी युग में क्या अनेक सम्प्रदायों में विभक्त निर्ग्रन्थ; ग्रन्थियों से रहित बन पाये हैं? यह शोध का विषय है। कई बार भौतिकवादी विचार-धारा से अनुप्राणित व्यक्तियों का निर्ग्रन्थ के प्रति इस प्रकार का आग्रह रहता है—**"युग बदल रहा है, अतः निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति के नियम भी बदलने चाहिए"** लेकिन यह तर्क कम प्रभावित करता है। क्योंकि पांच महाव्रत रूप शाश्वत मूल्यों में परिवर्तन उचित नहीं है। न आवश्यक ही। यदि कदाचित् उन शाश्वत मूल्यों में परिवर्तन कर दिया जाये तो निर्ग्रन्थ अणगार में भी हिंसादि रूप ग्रन्थियां निर्मित होने लगेगी। प्रश्न हो सकता है, कैसे? इसका उत्तर देने के लिए हम पहले अहिंसा महाव्रत से बात प्रारम्भ करते हैं। अहिंसा क्या है? महावीर ने आचारांग सूत्र में कहा है—**"जे अईया, जे य पडुपण्णा, जे आगयेस्स अरहंता भगवंतो, ते सव्वे एवमाइक्खंति एवं भासति, एवं पण्णवेंति एवं परुवेंति, सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता नहंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा एस धम्मे सुद्धे णियए सासए समिच्च लोयं खेयण्णेंहि पणेइए।"** अर्थात् जितने भी अतीत, वर्तमान तथा आगामी काल में तीर्थंकर होंगे वे सभी ऐसा कहते हैं, ऐसा भाषण करते हैं, ऐसा प्रज्ञापन करते हैं। ऐसा प्ररुपण करते हैं

प्राण, भूत, जीव, सत्वादि का हनन नहीं करना चाहिए उन पर शासन नहीं करना चाहिए, न गुलाम बनाना चाहिए, न परिताप देना चाहिए न उनके प्राणों का विनाश करना चाहिए। यही अहिंसा धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है और अरिहन्त भगवन्तों ने इसका सम्यक् प्रतिपादन किया है।

तीनकरण, तीनयोग से अहिंसा का अनुपालक साधक यदि उपाश्रय, धर्म-शाला आदि बनवाने की प्रेरणा दे, दूसरों को प्रेरणा देकर करवाये अथवा करने वालों का अनुमोदन करे तथा इसी प्रकार केवल धर्म प्रचारार्थ पानी की नौकादि में बैठकर विदेश-गमन करे। प्रवचन के समय ध्वनि-विस्तारक यन्त्र का प्रयोग करे, शारीरिक सुविधा के लिए बिजली, पंखा आदि विद्युतीय साधनों का प्रयोग करे, बोलते समय मुंह पर मुंहपत्ति का प्रयोग न करे, सचित्त पुष्प फलादि का स्वादलोलुप बनकर अथवा देव पूजार्थ उपयोग करे और गमनागमन आदि क्रियाओं को करते समय विविध त्रस प्राणियों की विराधना करे तो वह क्रमशः पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय की हिंसा जनित ग्रन्थियों का निर्माण करता है और उस निर्ग्रन्थ का वास्तविक स्वरूप सुरक्षित नहीं रह पाता है यदि कोई तर्क करे कि परहित के लिए कदाचित् अहिंसा से हटकर कार्य करे तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर है—यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जब व्यावहारिक जगत में देखते हैं कि कोई भी व्यापारी, इन्जीनियर, चिकित्सक, वक्कील अपनी हानि करके अथवा अपना पतन करके दूसरों का उत्थान नहीं करता। तब तीनकरण तीनयोग से हिंसा का त्यागी साधक जो आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति समर्पित है, अपने अहिंसा महाव्रतादि रूप शाश्वत मूल्यों को नष्ट करके हिंसा के लिए तैयार कैसे हो सकता है ? भौतिक मोह जनित प्रभाव से ग्रस्त अनेक बन्धु, पृथ्वीकाय, अप्काय, में तो जीवत्व स्वीकार कर भी लेते हैं लेकिन विद्युत् में जीवत्व का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। जिण धम्मो पुस्तक में विद्युत् की सचितता विशद् रूप से प्रतिपादित की गयी है। सम्बन्धित अंश प्रस्तुत करना समीचीन होगा। यंत्र-वादिता के इस युग में विद्युत् की सचितता एवं अचितता का प्रश्न एक ज्वलन्त रूप ले चुका है। अतः

इसका विस्तृत एवं स्पष्ट विवेचन उपयोगी होगा—

जे दीह लोग सत्थस्स खेयण्णे से असत्थस्स खेयण्णे ।
जे असत्थस्स खेयण्णे, से दीह लोग सत्थस्स खेयण्णे ।।

।। आचारांग प्र. अ. ।।

पंच स्थावरकाय जीवलोक में, वनस्पतिकाय जीवलोक को **"दीर्घलोक"** कहा गया है । यहां दीर्घ शब्द अवगाहना से सम्बन्धित हैं । पांच स्थावर एकेन्द्रिय कहलाते हैं । उनमें चार की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है तथा वनस्पतिकाय की अवगाहना जघन्य असंख्यातवें भाग तथा उत्कृष्ट एक हजार भोजन से अधिक मानी गयी है । [**प्रज्ञापना अवगाहना पद**]

वनस्पतिकाय की विश्व में अधिक प्राचुर्यता है । उस प्रचुरता के कारण आगमों में उसे दीर्घलोक कहा है । उस **"दीर्घलोक"** वन–स्पतिकाय के शस्त्र अग्निकायिक (बादर तेउकाय) जीव होते हैं । जो हरित वनस्पति को भी जलाकर राख कर देते हैं तो अन्य विश्ववर्ती प्राणियों का तो कहना ही क्या ? अर्थात् अग्नि शस्त्र विश्व के सभी प्राणियों का धातक है वह अति तीक्ष्ण एवं प्रचण्ड है इसके संताप से सभी प्राणी कितने खेदित होते हैं । यह स्वानुभूति से जाना जा सकता है । किसी भी व्यक्ति के जरा सी अग्नि की चिनगारी लग जाती है तो वह चीख उठता है । जिस स्थान को वह चिनगारी छूती है, उस स्थान पर फफोला हो जाता है । बहुत समय तक उसकी पीड़ा से वह खेदित होता है । इतनी सी चिनगारी भी व्यक्ति को कितना विह्वल बना देती है ? इसकी अनुभूति वह स्वयं करता है । जरा से करन्ट से भी मनुष्य के प्राण चले जाते हैं । इसी अनुभूति के आधार पर सोचा जा सकता है कि यह अग्नि शस्त्र (तेउकाय) जगत्-वर्ती सभी प्राणियों के लिए अत्यन्त भयावह पीड़ा से पीड़ित करने वाला तथा मृत्यु तक को प्राप्त कराने वाला है । इसलिए यह भली-भांति सुस्पष्ट है कि इससे भयंकर अर्थात् इसके समान जगत् में दूसरा कोई शस्त्र नहीं है ।

णत्थि जोइ समे सत्ये, तम्हा जोइं न दीवए ।

(उत्तराध्ययन-३५.१२)

ज्योति–अग्नि (ज्वाजल्यमान-तेजस्काय) के समान दूसरा कोई शस्त्र नहीं है । अतः अग्नि को प्रज्वलित न करें ।

जैसा प्रलयंकर शस्त्र अग्निकाय है । ठीक उसके विपरीत अग्निकाय (तेजस्काय) का असमारंभ रूप संयम है । संयम से बढ़कर अन्य कोई अशस्त्र नहीं हो सकता । अर्थात् जैसे अग्निकाय शस्त्र (तेजस्काय) विश्ववर्ती समग्र प्राणी लोक के लिए घातक एवं भयावह है । वैसे ही समग्र प्राणी लोक के लिए अभयंकर, प्राणरक्षक संयम रूप अशस्त्र है । इस संयम रूप अशस्त्र को जिसने भली-भांति जाना है, माना है, स्वीकारा है और अनुभूत किया है, उसने समस्त विश्व के सभी प्राणियों की सभी वेदनाओं को जाना है और आत्मीय भावनाओं के साथ किसी भी प्राणी को किंचित मात्र भी किसी प्रकार से कष्ट परिवेदना न देना, न दिलवाना और न देने वालों को अच्छा समझना । मन-वचन, काया से, तीनकरण तीनयोग के साथ ऐसे दृढ़ संकल्पी पुरुष विश्व के छोटे, बड़े सभी प्राणियों के खेद को जानने वाले होते हैं । इसलिए वे "खेदज्ञ" कहलाते हैं । जो खेदज्ञ होते हैं । प्राणियों के खेदोत्पादक वड़ से वड़े शस्त्र को जानते हैं । इसलिए उपर्युक्त सूत्र में तीर्थेश प्रभु महावीर ने कहा है—**जे दीहलोग सत्यस्स....।**

जो दीर्घलोक शस्त्र अग्नि (तेजस्काय) एवं उससे होने वाले समारम्भ तथा उससे होने वाले प्राणियों के खेद-परिताप को जानने वाला होता है । वही अशस्त्र-रूप संयम को जानने वाला होता है । वह दीर्घ-लोक शस्त्र अग्नि (तेजस्काय) को जानने वाला होता है । इस प्रकार इस सूत्र में हेतु हेतु मद-भाव सन्निहित है ।

जिज्ञासा—प्रस्तुत सूत्र में अग्नि (तेज) को दीर्घलोक शस्त्र शब्द से क्यों कहा गया ? मूल सूत्र में अग्नि या तेजस्काय शस्त्र का ही क्यों नहीं प्रयोग किया गया ? अथवा क्या किसी प्रयोजन को लक्ष्य कर दीर्घ लोक शस्त्र शब्द का प्रयोग किया गया है ?

समाधान—जिज्ञासा समीचीन है । प्रस्तुत जिज्ञासा का समाधान टीकाकार ने इस प्रकार दिया है—

अत्रोच्यते—प्रेक्षापूर्वकारितया, न निरभिप्रायमेतत्कृतमिति यस्यादयमु त्पाद्यमानो ज्वाल्यमानो वा हत्यवाहः समस्त भूतग्रामघाताय प्रवर्तते।

वनस्पतिदाह प्रवतस्तु बहुविधसत्व संहतिविनाशकारी विशेषतः स्यात् यतो वनस्पतौ कृमि पिलीलिक भ्रमर-कपोत श्वापदादय· सम्यवति तथा पृथिव्यपि तरुकोटर व्यवस्थिता स्यात् आपोप्यवश्यायरूपाः वायु पीषच्चंचलस्वस्थिता—

भाम कोमल किशलयानुसारी सम्भाव्यते, तदेवमग्नि समारम्य प्रवृतः एतावतो जीवन्नाशयति, अस्यार्थं सूचनाय दीर्घलोकशस्त्र ग्रहणमकरोत्, सूत्रकार इति । तथा चोक्तम्

जाय तेयं न इच्छन्ति पावगं जलइत्तए ।
तिक्खमन्नयरं सत्थं सत्वओ वि दुरासयं ।।

पाईणं पडिणं वावि उड्ढं अणुदिसामवि ।
अहे दाहिणओ वावि दहे उत्तरओ विय ।।

भूयाण-मेस-माघाओ हव्वावाहो न संसओ ।
तं पईव पयावट्ठा संजओ किंचि नारंभे ।।

अग्नि (तेजस्काय) को सूत्रकार ने दीर्घलोक शस्त्र कहा है। वह प्रेक्षापूर्वक ही कहा है, निरभिप्राय नहीं। क्योंकि यह अग्नि (तेज) उत्पन्न होती हुई, जलती हुई समस्त प्राणियों के घात के लिए प्रवर्तित होती है। वनस्पतिकाय के दाह के साथ तो यह अग्नि अन्य जीवों के लिए विशेष रूप से दाहकारी होती है। क्योंकि वनस्पति के आश्रित कृमि पीपिलिका, भ्रमर कपोत, श्वापद्र आदि अनेक जीव रहते हैं तथा पृथ्वी भी वृक्ष के मूल से सम्बन्धित होती है। पानी भी पृथ्वी के आश्रित अवश्य रहता है। वायु की भी चंचल स्वभाव के कारण हिंसा होती है। इस प्रकार अग्नि का समारम्भ करने वाला षट्कायिक जीवों की हिंसा करता है।

इस वात को सूचित करने के लिए अग्नि (तेजस्काय) शव्द का प्रयोग न कर "दीर्घलोक" "शस्त्र" शव्द का ग्रहण किया गया है।

कहा भी है—अग्नि (तेजस्काय) को जलाने की इच्छा न करें। क्योंकि इससे वढ़कर तीक्ष्ण एवं दुराश्रय शस्त्र कोई भी नहीं है। यह जव प्रज्वलित होती है तो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व,

अधो, दिशा, अनुदिशा में निवसित प्राणियों के लिए आघातकारी होती है। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। इसलिए संयति पुरुष को इसका आरम्भ नहीं करना चाहिए। **आगे टीकाकार ने लिखा है— अतः दीर्घलोक पृथ्व्यादिस्तस्य शस्त्रं अग्निकायस्तस्य "क्षेत्रज्ञो" निपुणः अग्निकायं वर्णादितो जनातित्यर्थः "खेदज्ञोवा"** खेदः तद् व्यापारः सव सत्त्वानां दहनात्मकः पाकाद्यनेक शक्तिकला पोपचितः प्रवरमणिरिव जाज्वल्यमानो लब्धाग्नि व्यपदेशः यतीनाममनारं भणीयाः तमेवंविधं **खेदय अग्नि व्यापारं जानातीति खेदज्ञः अतो य एव दीर्घलोक शस्त्रस्य खेदज्ञः स एव "अशस्त्रस्य" सप्तदश–भेदस्य संयमस्य खेदज्ञः संयमो हि न कश्चिज्जीवं व्यादयति अतो शश्त्रम् एवमनेन संयमेन सर्व सत्वाभय प्रदायिना अनुष्ठीयं मानेनग्निजीव विषयः समारम्भशशक्यः परिहर्तुं पृथिव्यादिकाय समारम्भश्चेत्ये वयसौ संयमे निपुणमतिर्भवति, ततश्च निपुणमतित्वद्विदित परमार्थोग्नि समारम्भद्वयावृत्य संयमानुष्ठाने प्रवर्तते।**

इदानी गत—प्रत्यागत लक्षणेनाविनाभावित्व प्रदर्शनार्थं सूत्रावयव परामर्श करोति।

जे असत्यस्सेव्यादि, यश्चाशस्त्रे—संयमे निपुणः स खलु दीर्घलोक शस्त्रस्य अग्नेः क्षेत्रज्ञः खेदज्ञो वा, संयमपूर्वकं ह्यग्नि विषय खेदज्ञत्वम् अग्निविषयं खेदज्ञतापूर्वकं च संयमानुष्ठानम् अन्यथा तद सम्भव एवेत्येतद्गत प्रत्यागत फलमाविर्भावितं भवति।

इसलिए जो दीर्घलोक—पृथ्वी आदि शस्त्र अग्नि (तेजस्काय) को जानता हैं "क्षेत्रज्ञ" है। वह अग्नि के वर्णादि को जानता है अथवा वह 'खेदज्ञ' होता है। अग्नि के कार्य दहन, पाचन आदि अनेक प्रकार के हैं। प्रवर मणि की तरह वह जाज्वल्यमान होती है। इसलिए संयति को अग्नि (तेज) का समारम्भ नहीं करना चाहिए न, करवाना चाहिए, न करते हुए को अच्छा समझना चाहिए इस प्रकार जो अग्नि के व्यापार को जानता है। वह अग्नि (तेजस्काय) का खेदज्ञ होता है। वह दीर्घलोक शस्त्र का खेदज्ञ अशस्त्र यानि सतरह प्रकार के संयम का खेदज्ञ होता है। संयम किसी जीव का व्यापादन नहीं करता, अतः अशस्त्र है। इस प्रकार संयम के द्वारा सभी प्राणियों को

अभय प्राप्त होता है। उसका अनुष्ठान करने वाले संयमी की मति निपुण होती है। उस मति से पृथ्वी आदि के समारम्भ स्वरूप अग्नि के व्यापार का परिहार करता है। इसलिए निपुणमति वाला होने से जिसने परमार्थ को जान लिया वह अग्नि (तेजस्काय) के समारम्भ से निवृत्त होकर संयमानुष्ठान में प्रवृत्ति करता है।

जो अशस्त्र स्वरूप संयम में निपुण है, वह निश्चय ही दीर्घलोक शस्त्र आस्तिकाय शस्त्र (बादर तेजस्काय) का क्षेत्रज्ञ है। यहां अहिंसा और संयम परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध वाले हैं। असयमी कदापि अहिंसक नहीं हो सकता और हिंसक कभी संयमी नहीं हो सकता।

अग्नि शब्द, तेजस्काय के अन्तर्गत अनेक भेदों में से एक है। तेजस्काय के समस्त भेद शस्त्र रूप है। इसका द्योतन दीर्घलोक शस्त्र के शब्द से सूत्रकार ने किया है।

शास्कारों ने तेजस्काय की भयंकरता के सम्बन्व में विवेचन किया है। तेजस्काय और दीर्घलोक शस्त्र के अन्तर्गत समग्र भेद-प्रभेद सन्निहित हो जाते हैं। जिसमें "विद्युत" को भी तेजस्काय स्वीकृति किया जाता है।

विद्युत की सचितता आगम के परिप्रेक्ष्य में—

१. श्री पन्नवणा सूत्र के प्रथम पद में तेजस्काय के वर्णन में बादर तेउकाय अनेक तरह को बतायी गयी है। जिसमें विजली "विद्युत" तथा (**संघरिस समुट्ठिए**) संघर्ष से समुत्पन्न हुई अग्नि को भी बादर तेउकाय में ग्रहण किया है।

"**जे थावण्णे तहप्पगारे**" के पाठ से और भी वैसी ही अनेक तरह की अग्नियां ग्रहण की गई है। विजली संघर्ष से उत्पन्न होती है।

1. उत्तराध्ययन सूत्र के ३६वें अध्ययन में "विज्जू" शब्द से विद्युत को अग्नि में लिया है। (बादर तेउकाय के रूप में लिया है)।

श्री अभिधान राजेन्द्र कोष में पृ २३४७ पर तेउकाय शब्द की व्याख्या में पिण्ड निर्युक्ति—ओघ निर्युक्ति, आवश्यक मलयगिरि, कल्प सुबोधिका बृहत्कल्प वृत्ति से उद्धरण है जिससे अग्निकाय तीन तरह की है।

१. सचित्त २. अचित्त ३. मिश्र बतायी है। सचित्त दो तरह की—१. निश्चय और २. व्यवहार।

१. निश्चय सचित्त अग्नि—ईंटे पकाने की भट्टी, कुम्हार की भट्टी आदि भट्टियों के बीच की अग्नि एवं विद्युत आदि निश्चय अग्निकाय होती है।

२. व्यवहार सचित्त अग्नि— अंगार (ज्वाला रहित अग्नि) आदि।

३. मिश्र तेजस्काय—मुर्मुर (चिनगारियां) आदि।

४. अचित्त तेजस्काय—अग्नि द्वारा पके हुए भोजन, तरकारियां, पेय–पदार्थ एवं अग्नि द्वारा तपाकर तैयार की हुई सूई, कैंची आदि गृह–सामग्री तथा राख, कोयला आदि ये अचित्त तेजस्काय है।

इसमें **बिजली को अचित्त नहीं, सचित्त माना है।**

५. सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुत–स्कन्ध के तृतीय अध्ययन में त्रस एवं स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीरों में पृथ्वी, अप, तेऊ आदि रूपों में प्राणी पूर्वकृत कर्मों के उदय से उत्पन्न होते हैं, ऐसा उल्लेख है। इससे यह सिद्ध होता है कि बेटरी, दियासलाई, तांबे के तारों में सचित्त तेउकाय उत्पन्न होती है।

६. भगवती सूत्र के पांचवे शतक के दूसरे उद्देशक में सिर्फ सचित्त अग्नि के मृत शरीर को अचित्त अग्नि कहा है। कृत्रिम (बनावटी) विद्युत आदि की अग्नि को नहीं।

७. भगवती सूत्र के सातवें शतक के २०वें उद्देशक में—अचित्त प्रकाशक तापक पुद्गल में सिर्फ क्रोधायमान साधु की तेजोलेश्या को ग्रहीत किया है, परन्तु बिजली को नहीं।

तेजस्काय की सजीवता– अग्नि ही जिसका शरीर हो, उसे उसे तेजस्काय कहते हैं। रात्रि में जुगनू का शरीर चमकता है, प्रकाश देता है। वह प्रकाश जीव की शक्ति का प्रत्यक्ष-फल है। इसी प्रकार अग्नि में भी भिन्न-२ प्रकार की प्रकाश शक्तियां पायी जाती हैं। उससे भी विभिन्न प्रकार का प्रकाश निकलता है। वह प्रकाश जीव

के संयोग के बिना नहीं निकल सकता। इस अनुमान से अग्नि में जीवत्व प्रमाणित होता है।

ज्वर आने पर जीवित शरीर अंगारे की तरह उष्ण हो जाता है। यह उष्णता जीव के संयोग के बिना नहीं हो सकती। क्योंकि मृत शरीर में यह उष्णता उपलब्ध नहीं होती।

मनुष्य का शरीर आहार आदि की सम्प्राप्ति से वृद्धि को पाता है। और उसकी अप्राप्ति से कृश होने लगता है। इसी तरह अग्नि (तेउकाय भी ईंधन की सम्प्राप्ति से धधकती है और ईंधनाभाव में शनैः शनैः शान्त होने लग जाती है।

वैज्ञानिक विवेचन—जिस प्रकार मनुष्य ऑक्सीजन ग्रहण करता है और कार्बन डाइऑक्साइड छोड़ता है। हवा के अभाव में दम घुटने लगता है। यहां तक कि जीवन दीप निर्वाण (बुझ) को भी प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से अग्नि भी श्वांस लेने में ऑक्सीजन ग्रहण करती है और छोड़ने में कार्बनडाई-ऑक्साइड बाहर निकालती है। जबकि आगमिक दृष्टि से श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करती है और उन्हें श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत कर छोड़ती है। अर्थात् अग्नि (तेउकाय) हवा में ही जीवित रहती है, जलती है। किसी बर्तन से ढक देने या हवा मिलने के साधन के अभाव में आग तत्काल बुझ जाती है। प्राचीन बंद कूप में या भूमिगृह में जो कई वर्षों से बन्द हो, उसमें जलता हुआ दीपक रख दिया जाय तो तुरन्त बुझ जाता है। इसका कारण जीवित रहने के लिए आवश्यक प्राणवायु का अभाव है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि तेजस्काय के अन्तर्गत तेजस्काय के सभी भेद ऑक्सीजन ही ग्रहण करें और न ही ऐसा नियम है। इस विषयक स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है। अग्निकाय (तेजस्काय) के जीवों के शरीर की प्रकृति उष्ण है। अतः अति उष्णता में जीवित रह सके, इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है। फिनिक्स पक्षी अग्नि में गिरकर नवजीवन प्राप्त करता देखा जाता है।

आज की प्रचलित विद्युत-बल्ब में भी पोलार की स्थिति रही है। उस पोलार में भी वायु विद्यमान है। तार आदि विद्युतीय सभी

१. सचित्त २. अचित्त ३. मिश्र बतायी है। सचित्त दो तरह की—१. निश्चय और २. व्यवहार ।

१. निश्चय सचित्त अग्नि—ईंटे पकाने की भट्टी, कुम्हार की भट्टी आदि भट्टियों के बीच की अग्नि एवं विद्युत आदि निश्चय अग्निकाय होती है।

२. व्यवहार सचित्त अग्नि— अंगार (ज्वाला रहित अग्नि) आदि ।

३. मिश्र तेजस्काय—मुर्मुर (चिनगारियां) आदि ।

४. अचित्त तेजस्काय—अग्नि द्वारा पके हुए भोजन, तरकारियां, पेय-पदार्थ एवं अग्नि द्वारा तपाकर तैयार की हुई सूई, कैंची आदि गृह-सामग्री तथा राख, कोयला आदि ये अचित्त तेजस्काय है।

इसमें बिजली को अचित्त नहीं, सचित्त माना है ।

५. सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुत-स्कन्ध के तृतीय अध्ययन में त्रस एवं स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीरों में पृथ्वी, अप, तेऊ आदि रूपों में प्राणी पूर्वकृत कर्मों के उदय से उत्पन्न होते हैं, ऐसा उल्लेख है। इससे यह सिद्ध होता है कि बेटरी, दियासलाई, तांबे के तारों में सचित्त तेउकाय उत्पन्न होती है ।

६. भगवती सूत्र के पांचवे शतक के दूसरे उद्देशक में सिर्फ सचित्त अग्नि के मृत शरीर को अचित्त अग्नि कहा है। कृत्रिम (बनावटी) विद्युत आदि की अग्नि को नहीं ।

७. भगवती सूत्र के सातवें शतक के २०वें उद्देशक में—अचित्त प्रकाशक तापक पुद्गल में सिर्फ क्रोधायमान साधु की तेजोलेश्या को ग्रहीत किया है, परन्तु बिजली को नहीं ।

तेजस्काय की सजीवता— अग्नि ही जिसका शरीर हो, उसे उसे तेजस्काय कहते हैं। रात्रि में जुगनू का शरीर चमकता है, प्रकाश देता है। वह प्रकाश जीव की शक्ति का प्रत्यक्ष-फल है। इसी प्रकार अग्नि में भी भिन्न-२ प्रकार की प्रकाश शक्तियां पायी जाती हैं। उससे भी विभिन्न प्रकार का प्रकाश निकलता है। वह प्रकाश जीव

के संयोग के बिना नहीं निकल सकता । इस अनुमान से अग्नि में जीवत्व प्रमाणित होता है ।

ज्वर आने पर जीवित शरीर अंगारे की तरह उष्ण हो जाता है। यह उष्णता जीव के संयोग के बिना नहीं हो सकती। क्योंकि मृत शरीर में यह उष्णता उपलब्ध नहीं होती।

मनुष्य का शरीर आहार आदि की सम्प्राप्ति से वृद्धि को पाता है । और उसकी अप्राप्ति से कृश होने लगता है । इसी तरह अग्नि (तेउकाय भी ईंधन की सम्प्राप्ति से धधकती है और ईंधनाभाव में शनैः शनैः शान्त होने लग जाती है ।

वैज्ञानिक विवेचन—जिस प्रकार मनुष्य ऑक्सीजन ग्रहण करता है और कार्बन डाइऑक्साइड छोड़ता है। हवा के अभाव में दम घुटने लगता है । यहां तक कि जीवन दीप निर्वाण (बुझ) को भी प्राप्त हो जाता है । उसी प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से अग्नि भी श्वांस लेने में ऑक्सीजन ग्रहण करती है और छोड़ने में कार्बनडाई-ऑक्साइड बाहर निकालती है । जबकि आगमिक दृष्टि से श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करती है और उन्हें श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत कर छोड़ती है । अर्थात् अग्नि (तेउकाय) हवा में ही जीवित रहती है, जलती है । किसी बर्तन से ढक देने या हवा मिलने के साधन के अभाव में आग तत्काल बुझ जाती है । प्राचीन बंद कूप में या भूमिगृह में जो कई वर्षों से बन्द हो, उसमें जलता हुआ दीपक रख दिया जाय तो तुरन्त बुझ जाता है । इसका कारण जीवित रहने के लिए आवश्यक प्राणवायु का अभाव है । पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि तेजस्काय के अन्तर्गत तेजस्काय के सभी भेद ऑक्सीजन ही ग्रहण करें और न ही ऐसा नियम है । इस विषयक स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है । अग्निकाय (तेजस्काय) के जीवों के शरीर की प्रकृति उष्ण है । अतः अति उष्णता में जीवित रह सके, इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है । फिनिस्स पक्षी अग्नि में गिरकर नवजीवन प्राप्त करता देखा जाता है।

आज की प्रचलित विद्युत-बल्ब में भी पोलार की स्थिति रही है । उस पोलार में भी वायु विद्यमान है । तार आदि विद्युतीय सभी

उपकरणों के अन्तर्गत भी वायु विद्यमान है। अतः विद्युतीय अग्नि में भी श्वासोच्छ्वास का प्रसंग बन जाता है। बाहर जलने वाली तेजस्काय का खाद्य पदार्थ लकड़ी घास-फूस, मिट्टी का तेल आदि है। बल्ब में जलने वाली विद्युत का खाद्य पदार्थ टंगस्टन के तार आदि हैं। वे जलते रहते हैं। कदाचित् कोई कहे कि एक ही जाति के प्राणियों का एक ही प्रकार का आहार और एक ही प्रकार का श्वासोच्छ्वास होना चाहिए। किन्तु उनका यह कथन यथार्थ नहीं है। क्योंकि विश्व में रहने वाले जीवों की जातियां विविध प्रकार की हैं। उनमें एक ही जाति के अवान्तर अनेक भेद माने गये हैं और उन भेदों में आहार तथा श्वास की भी भिन्नता रहती है। सर्वप्रथम मनुष्य को ही ले लें। मनुष्य जाति के अवान्तर अनेक भेद हैं। उन भेदों में हिमालय में वसित मनुष्यों का भी अन्तर्भाव हो जाता है। हिम–प्रदेश में जन्म लेने वाले मनुष्य वहां की शीत एवं शीत से संयुक्त वायु को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। जबकि रेगिस्तान, राजस्थान आदि प्रदेश के मानव स्व अनुकूल हवा के अभाव में वहां (हिम–प्रदेश में) रहने में असमर्थ हैं।

सुना गया है कि अन्य प्रदेशों के व्यक्ति जब हिम–प्रदेश में जाते हैं। तो ऊनी वस्त्रों के अतिरिक्त एक अंगीठी भी अपने सीने पर बांधते हैं।

इसके अतिरिक्त वनस्पति जाति में भी विचित्रता पायी जाती है। कोई वनस्पतियां तो जितना अधिक पानी बरसता है उतनी अधिक अंकुरित पल्लवित, पुष्पित, फलित होती हैं, किन्तु जवासा नामक वनस्पति उतनी ही अधिक कुम्हलाती है। यद्यपि वनस्पति जाति की अपेक्षा, ये समान है, फिर भी जलवायु, आहारादि की अपेक्षा इनमें भिन्नता पायी जाती है।

आगम में अग्नि की सात लाख योनियां और तीन लाख कुल कोटि कथित है। इसका समर्थन आधुनिक–विज्ञान से होता है। वैज्ञानिकों ने अग्नि के अगणित प्रकार स्वीकार किये हैं और इसका वर्गीकरण चार मुख्य भागों में किया है।

१. कागज और लकड़ी आदि में लगने वाली आग।

२. आग्नेय–तरल पदार्थ एवं गैस की आग।

३. विद्युत–तारों में लगने वाली आग।

४. ज्वलनशील धातु-तांबा, सोडियम और मैग्नेशियम में लगने वाली आग।

अग्नि के प्रकारों की भिन्नता से भी स्पष्ट प्रकट होता है कि अग्नि को प्रज्वलित करने वाले कारणों में भी मौलिक विभिन्न रासायनिक तत्त्वों का मिलना—लकड़ी की पायरोलिसेस पानी क्रिया, रेडेशियम हीट—ट्रांसफर पवन, प्रसंग आदि आग के प्रकारों की भिन्नता के कारण ही प्रत्येक प्रकार की आग बुझाने के उपाय भी भिन्न-२ काम में लिये जाते हैं।

वैसे सामान्यतः आग पानी से बुझाई जाती है। परन्तु यदि बिजली से लगी आग को पानी से बुझाने का प्रयत्न किया जाये तो इससे बुझाने वाले को भारी धक्का लगता है। कारण पानी, बिजली का सुचालक Conductor (कंडक्टर) होता है। पेट्रोलियम आदि ज्वलनशील तरल पदार्थों पर पानी डाला जाता है तो आग बुझने के बजाय ज्यादा फैल जाती है। यही कारण है कि इस प्रकार की आग पानी डालकर नहीं, बल्कि रेत आदि अन्य पदार्थ डालकर बुझाई जाती है। चूने पर पानी पड़ने से उसका भभक उठना व उससे उसकी वाहक ट्रकें आदि के जल जाने की घटनाएं तो सुनी ही जाती है।

लोहे की छड़ों के प्रसंग से बर्फ में भी आग लगती देखी गयी है। वैज्ञानिकों ने आग बुझाने के लिए विभिन्न रासायनिक तत्त्वों का अन्वेषण किया है। ज्वलनशील तरल पदार्थों की आग बुझाने के लिए पोटेशियम वाई कार्वोनेट या पर्पिल के पाउडर का उपयोग किया जाता है। मानो आयोनियम फास्फेट भी आग बढ़ने से रोकने की क्षमता रखता है।

कुछ आधुनिक विद्वानों का कहना है कि—विजली, अग्नि नहीं एक शक्ति है—ऊर्जा है। ऊर्जा और अग्नि, ये दोनों एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न भौतिक पदार्थ (द्रव्य) है। किन्तु इस प्रकार का कथन करने वाले महानुभाव जैन-दर्शन के तत्त्व-ज्ञान से अनभिज्ञ है।

बिजली और अग्नि ये दोनों तेजस्काय के भेद हैं। दोनों स्वतन्त्र पदार्थ हैं और शक्ति युक्त पदार्थ है। शक्ति-ऊर्जा, यह पदार्थ का गुण है जो पदार्थ से कभी भी पूर्णतः भिन्न नहीं रह सकता। जैसे कि सूर्य की किरणें पूर्णतः भिन्न हो जाये तो किरणें, किरणें नहीं रहेगी और न ही सूर्य, सूर्य रहेगा। वैसे ही अग्नि में उष्णता-ताप यह उसकी शक्ति है। उष्णता-ताप-अग्नि से पूर्णतः भिन्न नहीं रह सकती। ऊर्जा को अग्नि से पूर्णतः भिन्न मानना, तात्विक दृष्टि की अनभिज्ञता प्रकट करना है।

वैज्ञानिकों के अनुसार कुछ क्वांटम कणों का समूह है। क्वांटम कण ऊर्जा के संवाहक के रूप में स्वीकार किये गये हैं और यह माना जाता है कि ताप, विद्युत और प्रकाश आदि सभी की मूल इकाई, ये ही क्वांटम कण हैं।

[हिन्दुस्तान १८-८-८२]

अतः वैज्ञानिक दृष्टि से स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है ऊर्जा और अग्नि सर्वथा भिन्न द्रव्य नहीं है। यदि कहा जाये कि बिजली अदृश्य ऊर्जा है क्योंकि वह उसके मूल स्वरूप में आंखों को दिखायी नहीं देती।

जिसका मूल स्वरूप आंखों से दिखाई न दे, वह ऊर्जा है, यह कथन भी युक्ति से बहुत दूर है।

जैन दर्शन की दृष्टि से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि अरूपी द्रव्य आंखों से देखे नहीं जा सकते तो क्या वे सभी ऊर्जा रूप हैं? द्रव्य नहीं हैं? जैन दर्शन का स्वरूप ज्ञाता भी अरूपी द्रव्यों को अस्वीकार नहीं कर सकता अर्थात् अरूपी द्रव्यों को गुण-सम्पन्न मानता ही है। वायुकाय आंखों से नहीं देखी जाती है तदपि गुण-सम्पन्न वायुकाय जीव द्रव्य रूप में स्वीकृत है ही।

जैसे मनुष्य शरीर की आत्मा भी मूल स्वरूप में आंखों से नहीं दिखती। तदपि उसके ज्ञानादि गुण की अभिव्यक्ति से ऊर्जा सम्पन्न आत्म-द्रव्य माना जाता है। जैसे आत्मा की शक्ति, ऊर्जा आत्मा से भिन्न नहीं रहती। वैसे ही बिजली-विद्युत अदृश्य होने पर भी मूल-

स्वरूप में आंखों से नहीं दिखाई देने पर भी, वह द्रव्य नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि झटका लगना, यह विद्युत द्रव्य का गुण है। उसकी ऊर्जा-शक्ति से अन्य माध्यम मिलने पर प्रकाश एवं ताप अभिव्यक्त होते हैं। प्रकाश और ताप ये गुण हैं। गुण गुणी लाइट, पंखे, ध्वनि क्षेपक आदि विद्युत से संचालित वस्तुओं में रहने वाली अग्नि की सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है।

आचारांग सूत्र में कहा है—**एत्थं सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभाअपरिण्णाया भवंति। एत्थं सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेले आरंभापरिण्णाया भवंति।**

तं परिण्णाय मेहावी

नेव सयं अगणिसत्थं समारंभेज्जा,
णेवण्णेहिं अगणिसत्थं समारंभावेज्जा,
णेवण्णे अगणि सत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा,
जस्सेते अगणिकम्म समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे।"

इस सूत्र का भावार्थ भी यही द्योतित करता है कि जो मुनि अग्नि काय का समारम्भ न स्वयं करता है, न दूसरों से करवाता है और न करते हुए को अच्छा समझता है, वही वस्तुतः वास्तविक मुनि जीवन जीता है। अतः मुनि को बादर तेउकाय की हिंसा से सर्वथा बचना चाहिए। बादर तेउकाय से बढ़कर वस्तुतः कोई शस्त्र नहीं है। इसको हम उदाहरण से समझ सकते हैं।

जब आकाश से बिजली गिरती है तो उसके गिरने से पानी के जीव मरते हैं, वायुकाय के जीवों की विराधना होती है और जिस वनस्पति पर गिरती है तो वनस्पति के जीव नष्ट होते हैं, वृक्षादि के कोटर में जो त्रस-जीव अथवा अण्डे रहते है वे समाप्त होते हैं और वृक्ष के मूल में जो पृथ्वीकाय के जीव हैं, वे भी समाप्त हो जाते हैं और पानी में जो सात प्रकार के जीव माने हैं, वे भी समाप्त होते हैं।

(द्रव्य) के बिना नहीं रह सकते। सिर्फ आंखों से अदृश्य

पदार्थ को ऊर्जा मान लेने वाले महानुभाव, प्राचीनकाल के नास्तिकों का हास्यास्पद पार्ट तो अदा नहीं करते हैं ?

कुछ विद्वानों का कथन है कि "विजली वाहक तार को स्पर्श करे, तो झटका लगता है और हमें उसके अस्तित्व का अनुभव होता है, लेकिन वह दिखाई नहीं देता है ।

यह कथन भी वदतोव्याघात के तुल्य है। विद्युत का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करने वाला व्यक्ति उसके अस्तित्व को अनुभव करता है। अतः यह स्वतः सिद्ध होता है कि जिसका अस्तित्व है वह द्रव्य है, और ऊर्जा उसका गुण है ।

यदि कोई यह कहे कि पेड़ पर विजली गिरी, तो पेड़ जलकर राख नहीं होता है। सूखता है, मरता है ।

तो यह कथन सर्वथा अयुक्त है। उन्हें इतना भी ध्यान नहीं है कि बिजली की मात्रा कम होने से सूखता है पर अधिक मात्रा होने पर तो पेड़ जलकर राख हो जाता है। जैसे कि दो तारों में परस्पर रगड़ होने पर तार जलकर राख हो जाते हैं। ऐसे प्रसंग प्रायः दृष्टिगोचर होते हैं। तार, वनस्पति से अधिक सख्त है। जहां अति सख्त की भी राख हो जाती है तो बिजली की अधिक मात्रा होने पर पेड़ की राख कैसे नहीं होगी ?

सुना जाता है कि बड़े-२ शहरों में लकड़ियों के अभाव में मनुष्यों का दाह संस्कार विद्युत से किया जाता है और उसकी राख हो जाती है इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि बिजली में राख करने क्षमता है। पर विद्युत की मात्रा कम होने से पेड़ जलकर राख नहीं हो पाता। अग्नि की भी मात्रा कम होगी तो वह किसी की राख नहीं कर पाएगी, बल्कि सुखा देगी।

प्रख्यात वैज्ञानिक सर जे. जे. टामसन ने हिसाब लगाकर बताया है कि यदि किसी एक परमाणु के भीतर जो शक्ति संगठित है, वह बिखर जाय तो क्षणांश में ही लंदन जैसे घने बसे हुए तीन बड़े शहर राख हो जायें। यह विद्युत–अणुओं की शक्ति पर आधारित गणना थी। अब पता चला है कि इन विद्युत–अणुओं की मूल इकाई

अति सूक्ष्म प्रकाशाणु है । उनकी शक्ति अनेक गुणा अधिक है । इस उद्धरण से भी यही सिद्ध होता है कि राख करना विद्युत–अणुओं की मात्रा पर निर्भर है ।

लेकिन इतने मात्रा से बिजली तेजस्काय नहीं है, यह कथन असमीचीन है । यह कथन भी कि "बिजली, अग्नि, उष्णता, प्रकाश ये चारों एक दूसरे से भिन्न है ।" तत्त्वों की सर्वथा अनभिज्ञता ही सूचित करता है यदि अल्पांश में भी तत्त्व का स्वरूप समझा होता तो, उष्णता और प्रकाश को अग्नि से या विद्युत से भिन्न कभी नहीं कहा जाता । क्योंकि उष्णता और प्रकाश ये दोनों अग्नि और विद्युत के गुण है । गुण, गुणी से सर्वथा भिन्न नहीं रहता । एतद् विषयक उल्लेख एवं वैज्ञानिक प्रमाण पूर्व में दिये जा चुके हैं ।

आकाशीय विद्युत और प्रयोगशाला की विद्युत, दोनों विद्युत जाति तेजस्कायिक है । वैज्ञानिक भी आकाश एवं प्रयोगशाला की विद्युत को एक मानते हैं । यह कथन इतना सरल है कि विज्ञान का अध्ययन करने वाला एक साधारण विद्यार्थी भी इससे अनभिज्ञ नहीं रह सकता ।

डॉ. डी. एस. कोठारी ने भी स्पष्ट कहा कि जो अग्नि (तेजस्काय) आम जनता की दृष्टि में दृष्ट है वह यदि शास्त्रीय परिभाषा से सचित्त है तो विद्युत निश्चित सचित्त है ।

यदि यह कहा जाय कि–"**जहां ज्वलन प्रक्रिया चल रही है, वहीं अग्नि होती है और इस प्रक्रिया को प्राणवायु (ऑक्सीजन) का मिलना बहुत जरूरी है ।**

यह कथन उपयुक्त है किन्तु प्राणवायु का अग्नि–जाति के विषय में सिर्फ ऑक्सीजन हवा का ही मानना युक्तियुक्त नहीं है । भिन्न–२ जाति के प्राणीवर्ग में भिन्न-२ प्राणवायु अपेक्षित रहता है । दीपक आदि की अग्नि के लिए कदाचित् ऑक्सीजन प्राणवायु है किन्तु, अन्य अग्नि के लिए अन्य प्राणवायु भी हो सकती है । शास्त्रीय दृष्टि से तो सभी प्राणियों के लिए प्राणवायु श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गल ही होते हैं ।

इसीलिए शास्त्रकारों ने ऑक्सीजन आदि वायु विशेष का नाम न लेकर सिर्फ प्राणवायु का उल्लेख किया है। यदि शास्त्रकारों की दृष्टि में कोई वायु विशेष ही तेजस्काय के अन्तर्गत सभी भेदों के लिए प्राणवायु होती तो वे सामान्य प्राणवायु का ही उल्लेख न कर स्पष्टतया तेजस्काय के लिए ऑक्सीजन आदि वायु विशेष को ही प्राणवायु कह देते। पर ऐसा कथन नहीं है और यह होना शक्य भी नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष में परिदृष्ट है—मनुष्य के लिए प्राणवायु ऑक्सीजन की आवश्यकता एवं वनस्पति के लिए कार्बन-प्राणवायु की आवश्यकता। अत: जलन प्रक्रिया के लिए सिर्फ प्राणवायु—ऑक्सीजन का ही मिलना जरूरी नहीं, विजली के बल्व में पोलार रहती है और उस पोलार में विभिन्न प्राणवायु भी विद्यमान रहती है। यदि किंचित् भी वायु न रहे तो बल्व सिकुड़ कर टूट जाएगा।

यदि कोई कहे कि—"**बिजली का स्विच ऑन करते हैं, उससे बल्व प्रज्वलित होता है, हमें प्रकाश मिलता है। दस पन्द्रह मिनटों बाद बल्व गर्म भी लगने लगता है। इस तरह जहां प्रकाश है, वहां उष्णता है, लेकिन क्या बल्व में ज्वलन क्रिया हो रही है? बिल्कुल नहीं।**"

किन्तु यह कथन तो "**घटकुट्यां प्रभात**" न्याय का अनुसरण करता है। पूर्व में जो कहा कि विद्युत, प्रकाश और उष्णता भिन्न है। उसका खंडन इसी वाक्य में उपदर्शित है। यदि विद्युत का गुण प्रकाश और उष्णता नहीं होता तो स्विच ऑन करने पर प्रकाश नहीं होता, प्रत्युत प्रकाश को अन्य तत्त्व का अन्वेषण अपेक्षित होता। किन्तु ऐसा होता नहीं। विद्युत से प्रकाश का आविर्भाव हुआ। इससे यह सुस्पष्ट है कि विद्युत तेजस्कायिक द्रव्य है और प्रकाश उसका गुण है। तत्काल बल्व गरम भी लगने लगता है। गरम लगना, विद्युत का उष्णता गुण है। अब रहा प्रश्न ज्वलन का। इस पर यदि मीमांसा की जाये तो बल्व के भीतर में टंगस्टन (एक खनिज द्रव्य) तार का ज्वलन हो रहा है और यदि वहां दीर्घ समय तक ज्वलन होता रहे तो उष्णता से, तापमान की वृद्धि से अन्य पदार्थ भी जल सकते हैं। पतंगे उसी बल्व की उष्णता में मूर्च्छित होकर चार-पांच बार टक्कर खाकर मर जाते हैं। बल्व के भीतर भले ही ऑक्सीजन न हो, पर

पर अन्य वायु तो विद्यमान रहती ही है और वह उस तेजस्काय के लिए प्राणवायु का काम करती है। अन्यथा ज्वलन क्रिया के अभाव में प्रकाश और गरमी भी समाप्त हो जाएगी।

यदि कोई कहे कि "विश्व में कुछ द्रव्य ऐसे हैं, जो बिजली के उत्तम वाहक...... कुछ द्रव्य...... बिजली के दुर्वाहक है। उत्तम वाहक से बिजली प्रवाहित हो सकती है।...... दुर्वाहक से नहीं। हर एक धातु...... पानी........ शरीर...... क्षार, आम्ल पृथ्वी (जमीन) आदि बिजली के उत्तम वाहक हैं। लकड़ी, एबोनाइट काच, लाख, तेल, गंधक, चीनी, मिट्टी, रबड़, प्लास्टिक आदि बिजली के दुर्वाहक हैं। क्षारयुक्त पानी, बिजली का उत्तम वाहक होने से ये दोनों मानों आपस में मित्र हैं। इसके विपरीत पानी और अग्नि ये दोनों परस्पर शत्रु हैं।"

उपर्युक्त तर्क भी मीमांसा की कसौटी पर समीचीन प्रतीत नहीं होता। क्योंकि "काष्ठ आदि बिजली के दुर्वाहक हैं यह बात बिजली तत्त्व का अपूर्ण ज्ञाता साधारण बुद्धिजीवी ही कह सकता है, विद्युत तत्त्व का विशेषज्ञ नहीं। विशेषज्ञ का कथन है कि सामान्य पावर की बिजली के लिए काष्ठादि दुर्वाहक तो क्या भस्मीभूत होते देखे गये हैं। पानी में भी वड्वानल विस्तृत होती देखी गई है तथा दुर्वाहक (दु+वाहक) शब्द ही अर्थ स्पष्ट कर रहा है कि काष्ठादि पदार्थ वाहक तो हो सकते हैं किन्तु कठिनता से।"

उपर्युक्त कथन करने वाला व्यक्ति यदि विद्युत एवं अग्नि विषय का परिपूर्ण ज्ञाता होता तो वह इस कुतर्क से जन-सामान्य को भ्रमित नहीं करता। ऐसे भी तत्त्व विश्व में विद्यमान हैं कि अग्नि के सुवाहक एवं ज्वलनशील पदार्थों की सत्ता होने पर भी प्रतिबंध तत्त्व की विद्यमानता से आग भी उस 'सुवाहक' तत्त्व से प्रवाहित नहीं हो सकती एवं दहनीय तत्त्व को दग्ध भी नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए हाइड्रोजन व ऑक्सीजन दोनों ही गैसें हैं। दोनों ही ज्वलनशील है, किन्तु जब यही दोनों मिलकर एक हो जाते हैं तो न केवल वे गैस तरल स्थिति में आ जाते हैं। अपितु जलाने की अपेक्षा उसका गुण बुझाने का हो जाता है। इस स्थिति में ज्वलनशीलता नष्ट नहीं होती प्रत्युत वह भीतर रहकर पोषण और शक्ति का आधार बन जाती है।

चन्द्रकान्तमणि के सामने (समीप) आग को कार्पास पर रख देने पर भी वह उसको प्रज्वलित करने में समर्थ नहीं हो सकती। काष्ठ भी पास में पड़ा रहे तो भी अग्नि उसमें प्रवेश नहीं कर पाती। इतने मात्र से अग्नि की ज्वलनशीलता का निषेध नहीं कर सकते। प्रति–बन्धक (चन्द्रकान्त मणि) की विद्यमानता से अथवा पावर की न्यूनाधिकता से ज्वलन क्रिया कहीं नहीं भी बनती है और कहीं बन भी जाती है।

दो विभिन्न प्रकार की धातुओं अथवा धातु मिश्रण के तारों के सिरे यदि पिघलाकर जोड़ दिये जाये और उनके सिरों को विभिन्न तापमान पर रखा जाये तो उनमें विद्युत धारा प्रवाहित होने लगेगी यह धारा विद्युत है। दो तारों के परस्पर संघर्ष से धातु के तार भी भस्मीभूत हो जाते हैं। ज्वालाएं दृष्टिगत होती है। इन प्रत्यक्ष दृश्यों से भी भली-भांति सिद्ध है कि विद्युत-ज्वलनशील है। फिर दुर्वाहक सुवाहक साधनों का नाम लेकर विद्युत के उष्ण एवं प्रकाश गुण को भिन्न मानना–छिपाना **'माता में बन्ध्या'** की तरह प्रलाप मात्र है।

यदि कोई कहे कि—**"पानी और बिजली का प्रवाह जब एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, तो न पानी उड़ता है और न बिजली बुझती है।"** कितना मायूस मस्तिष्क है। जैसे बिजली की हीट से पानी वाष्प बनकर उड़ जाता है। उसमें माध्यम काम करता है। लेकिन माध्यम में वाष्प बनाने की क्षमता नहीं। वैसे ही विद्युत का माध्यम न हो तो उसमें भी प्रकाश प्रकट नहीं हो सकता। स्वल्प पानी से भी तड़-२ करने वाली उस विद्युत के स्फुलिंगों को समाप्त किया जा सकता है। अतः पानी और बिजली की तुलना करना और पावर के अनुपात का ख्याल न रखना सुज्ञों के लिए अशोभनीय है।

यदि कोई कहे कि—**"बिजली एक क्षण में दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुंच सकती है। अग्नि में यह गुण धर्म नहीं।"**

यह तर्क भी कितना बेतुका है। एक छोर से दूसरे छोर तक पहुंच जाने मात्र से द्रव्य का निषेध करना असंगत है। परमाणु द्रव्य कहलाता है। वह भी एक क्षण में विश्व (१४ रज्वात्मक लोक) के एक छोर तक पहुंच जाता है। इस प्रकार गति से द्रव्य की तुलना

करना विस्मृत मति का प्रदर्शन कहा जा सकता है। यह पूर्व में कहा जा चुका है कि किसी भी पदार्थ की गति-विगति में माध्यम आवश्यक है। एक व्यक्ति माध्यम की अनुकूलता से एक स्थल से दूसरे स्थल पर शीघ्रता से पहुंच जाता है जबकि दूसरा व्यक्ति माध्यम की प्रतिकूलता से शीघ्र गति नहीं कर पाता। इतने मात्र से एक को सजीव और दूसरे को निर्जीव नहीं कहा जा सकता। एक विचारवान् स्वयं समझ सकता है कि शिशु एवं तरुण की गति-मन्दता और त्वरित-गति से सजीव–निर्जीव का विभेद नहीं किया जा सकता।

विद्युत का प्रचण्ड स्वरूप एवं त्वरित गति निश्चित तेजस्काय को सिद्ध करता है। छाने (कण्डे) आदि की अग्नि (व्यवहार सचित्त अग्नि) इत्यादि विषयक **"अभिधान राजेन्द्र कोष"** के प्रमाण भी ऊपर दिये जा चुके हैं।

घर्षण से बिजली के उद्भव की तरह अग्नि का भी उद्भव होता है। यथा—एरण (अरणि) की लकड़ी के परस्पर घर्षण से, पत्थर और चमक के घर्षण से, माचिस के घर्षण से हाँ, घर्षण की न्यूनाधिकता से तत्क्षण चमक का अलक्षित होना अग्नि का रूप न लेना, अथवा विद्युत का पूर्ण प्रगट न होना, यह अलग बात है। पर, घर्षण की पूर्णता एवं तद्जनित तत्त्व को जलने का माध्यम हो तो वहां अग्नि और विद्युत दोनों ही देखे जा सकते हैं। जनरेटर कितना ही तेज चलता हो पर, यदि घर्षण से उत्पन्न विद्युत को जलने का माध्यम न हो तो वहां विद्युत भी दृष्टिगत नहीं होती। जैसे वर्षाकाल में नदी का पानी अति वेग से प्रवाहित होता है। बड़ी–२ चट्टानों से संघर्ष करता है पर वेग और संघर्ष के परिणाम से जलने वाला माध्यम न होने से बिजली का प्रवाह दृष्टिगत नहीं होता। इस प्रकार तटस्थ बुद्धि से प्रत्येक स्थल के विषय को हृदयंगम करने पर ही वस्तु-स्थिति का यथार्थ ज्ञान हो सकता है।

जहां प्रकाश होगा, वहां उसका आधार अग्नि या विद्युत होगा ही, पर स्वयं प्रकाश अग्नि या विद्युत धर्म नहीं है। क्योंकि उष्णता की तरह प्रकाश भी अग्नि-विद्युत का गुण है।

चमक को प्रकाशन्तर से प्रकाश भी कहा जा सकता है, किन्तु

यह चमक रूप प्रकाश अग्नि या विद्युत का गुण नहीं कहा जा सकता है। जैसे जुगनू में चमक है, पर वह तेजस्काय का गुण नहीं। क्योंकि उसका शरीर उद्योत नाम-कर्म के उदय से चमकता है। रेडियम धातु आदि भी चमक वाले अवश्य हैं, पर उनमें तेजस्काय का गुण नहीं। इस विवेचन से यह भलीभांति स्पष्ट है कि अग्निकाय जैसे बादर तेजस्काय का भेद है, वैसे बिजली भी बादर तेजस्काय का भेद है। लक्षण की समानता होने से ज्वलनादि कार्य भी अग्नि की अपेक्षा विद्युत से कई गुना अधिक होते हैं। इस विषयक वैज्ञानिक अनुसंधान के प्रमाण एवं आगम प्रमाण ऊपर उल्लिखित हुए हैं। उन प्रमाणों से विद्युत की भयंकरता भी सुस्पष्ट है।

इसीलिए **"आचारांग सूत्र"** में तीर्थेश प्रभु महावीर ने तेजस्काय को **"दीर्घलोक शस्त्र"** के रूप में बतलाया है। दीर्घलोक शस्त्र के अन्तर्गत तेजस्काय के सभी भेदों का समावेश हो जाता है।

इस प्रकार अग्नि (तेजस्काय) की सजीवता स्वयं ही सिद्ध है। प्रकाश उष्णता ये अग्नि (तेज) के गुण है। गुण गुणी से सर्वथा भिन्न नहीं रहते। **"विज्जु संघरिस समुट्ठिए"** शब्द से तथा वैज्ञानिकों द्वारा किये गये अग्नि के चार विभागों में से तीसरा विभाग **'विद्युत तारों में लगने वाली आग"** से अग्नि, लाइट, पंखे ध्वनि-क्षेपकादि विद्युत से संचालित वस्तुओं में रहने वाली अग्नि की सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है।

आचारांग सूत्रकार भी कहते हैं—

"नेय सयं अगणि सत्थं समारंभेज्जा।
नेवण्णेहिं अगणि सत्थं समारंभावेज्जा॥
णेवण्णे अगणि सत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा॥"

आ. प्र. अध्य. उद्दे. २१

अर्थात् मेधावी साधक—अग्निकाय का समारम्भ न स्वयं करे, न अन्य से करवाये, न करते हुए को अच्छा समझे।

क्योंकि साधक किसी भी हिंसा रूप शस्त्र का प्रयोग कर्ता नहीं होता है। अतः यह विषय विचारणीय बन जाता है कि छः जीव

निकाय का रक्षक मुनि एक ओर तो हिंसा रूप शस्त्र के प्रयोग से बचने के लिए मुंह पर मुख-वस्त्रिका लगाये और दूसरीं ओर ध्वनि विस्तारक यंत्र का उपयोग करे तो कहां तक औचित्य रह सकता है ?

जिन मुनियों की पावन संगति सम्प्राप्त कर श्रोता आत्म-शुद्धि करना चाहता है, वे मुनि भी यदि इस प्रकार के हिंसात्मक साधनों का उपयोग करें तो क्या आत्म-शुद्धि होगी ? आत्म-शुद्धि के परमान्वेषक प्रभु महावीर के समोसरण में सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव की भी जान-बूझकर विराधना नहीं की जाती थी, इसलिए विवेक सम्पन्न श्रावक फूल मालाएं आदि जो भी सचित्त पदार्थ उनके पास होते, वे समो-सरण की सीमा के बाहर ही उतार कर फिर समोसरण में प्रवेश करते थे । फिर धर्म प्रवर्तकों द्वारा हिंसा जनित साधनों का उपयोग करना क्या उचित है ?

यदि कोई तर्क करे "साधक ध्वनि विस्तारक यन्त्र में बोलना नहीं चाहते लेकिन गृहस्थ उसकी सुविधा के लिए विद्युत से संचालित साधन साधु के सामने रखे दे और साधु को मजबूरन बोलना पड़े तो क्या आपत्ति है ?" यह तर्क उचित नहीं ठहरता क्योंकि गृहस्थ तो अपनी सुविधा के लिए यह भी कह सकता है कि आप पैदल न चलते हुए गाड़ी में बैठना शुरू कर दीजिए ताकि हमको ज्यादा समय धर्मोप-देश श्रवण करनें को मिलेगा तो क्या साधक स्वीकार कर लेगा ? कहीं नहीं ।

श्रावकों ने अजमेर में जवाहराचार्य के समक्ष प्रवचन हेतु ध्वनि विस्तारक यंत्र रख दिया । इस पर जवाहराचार्य लगभग चालीस हजार की जनता के बीच यह कहते हुए निकल पड़े, "मैं लाउड स्पीकर में नहीं बोलूंगा । किसकी हिम्मत जो मुझे जबरन बुलाये ?" ऐसा ही एक प्रसंग मेरे साथ भी बोरीवली चातुर्मास के उपरान्त घटित हुआ । बोरीवली चातुर्मास के बाद घाटकोपर के लोगों का बार-बार आग्रह रहा, "आपको घाटकोपर चातुर्मास करना ही होगा ।" उनके इस अत्याग्रह को देखकर मैंने कहा—"मेरा चातुर्मास आपके लिए भारी पड़ सकता है ?" वे तुरन्त बोले—"क्यों ?" हमारे यहां आयम्बिल शाला में तीन बड़े-बड़े हॉल है । प्रत्येक हॉल में सात सौ दर्शनार्थियों

की व्यवस्था हो सकती है। इसके अतिरिक्त पाठशाला आदि कई मकान खाली हैं, आने वाले दर्शनार्थियों को कोई तकलीफ नहीं होगी।" मैंने उनको स्पष्टीकरण दिया, "दर्शनार्थियों को कठिनाई हो अथवा नहीं। इस विषयक मेरा अभिप्राय नहीं है, और न ही दर्शनार्थियों की भोजनादि व्यवस्था सम्बन्धी मैं प्रेरणा देता हूं। मेरे कठिन कहने का तात्पर्य संयमी मर्यादाओं से है क्योंकि आपके यहां सूर्योदय के पूर्व ही पिछली रात्रि के समय भाई-बहिन स्थानक में सम्मिलित होकर प्रार्थना करते हैं। जहां सन्तों का प्रवचन होता है, वहां ध्वनि विस्तारक यंत्र का उपयोग श्रावक चन्दा इकट्ठा करने के लिए करते हैं। और धर्म स्थानक में बिजली की रोशनी रहती है। इन सब बातों के होते हुए मेरा चातुर्मास सम्भव नहीं।

मैंने यह भी स्पष्ट किया "प्रभु महावीर की शासन परम्परा के अनुसार—साधक की प्रतिज्ञा रहती है कि सूर्योदय के पहले और सूर्यास्त के बाद कोई भी महिला सन्तों के स्थान पर न आये और नहीं सन्तों के सामने कोई व्यक्ति माईक आदि के द्वारा हिंसा करे। साथ ही यदि सन्तों के सामने ही माईक आदि के माध्यम से श्रावक चन्दा इकट्ठा करें तो साधक की अपरिग्रह वृत्ति से अनभिज्ञ व्यक्ति को यह भी भ्रांति हो सकती है कि ये महाराज ही चन्दा इकट्ठा करवा रहे हैं। अतः ये परिग्रही है, अपरिग्रही नहीं। जनता मैं ऐसी भ्रान्ति पैदा करने वाले सन्त तीर्थंकरों की श्रमण संस्कृति के अवमूल्यन के हिस्सेदार बनते हैं। साथ ही साधक अपनी प्रतिज्ञानुसार बिजली के प्रयोग युक्त मकान में चातुर्मास नहीं कर सकता फिर आपके यहां चातुर्मास कैसे सम्पन्न हो।"

घाटकोपर संघ कहने लगा—"हमारे लिए कोई कठिनाई की बात नहीं, हम आप श्री जी की संयमी मर्यादाओं में बाधक नहीं बनते हुए आपका चातुर्मास घाटकोपर ही करवायेंगे, क्योंकि आप जैसे विधिवत् संयम पालक श्रमणों के चातुर्मास की हम अत्यन्त आवश्यकता महसूस करते हैं।" घाटकोपर संघ की धर्म के मूल्यों में निष्ठा देखकर वहां चातुर्मास की मैंने स्वीकृति प्रदान कर दी। परन्तु जैसे ही पर्युषण पर्व के प्रारम्भ का समय समीप आया घाटकोपर संघ ने कहा "म. सा. पर्युषण पर्व में हमारे घाटकोपर के सभी जैन भाई-बहिनें

प्रवचन श्रवण करने को आती हैं, यदि आप लाउड स्पीकर का उपयोग नहीं करेंगे तो जनता को लाभ नहीं मिलेगा । अतः केवल आठ दिनों के लिए लाउड स्पीकर का उपयोग करना होगा ।"

मैंने उनके समक्ष अपनी पूर्व प्रतिज्ञा दुहराई और उनकी समस्या का समाधान करने के लिए सुझाव रखा "यदि आप चाहें तो चार-पांच स्थानों पर पर्युषण पर्व के प्रवचन सन्तों द्वारा सम्पन्न हो सकते हैं ।" लोग तैयार हो गये और अत्यन्त सुनियोजित ढंग से चार-पांच स्थानों पर प्रवचन होने लगे थे । तदुपरान्त संवत्सरी का दिन निकट आया देखकर फिर लोगों का आग्रह शुरू हुआ "यदि संवत्सरी के दिन प्रतिक्रमण के समय माईक का उपयोग नहीं होगा तो समस्त लोग प्रतिक्रमण नहीं सुन पायेंगे ।" मैंने कहा बारह महीनों में आप लोग एक ही दिन बहुल संख्या में पौषध करते हैं और सम्पूर्ण जीवों की अहिंसा की भावना को लेकर "खामेमि सव्वे जीवा" का पाठ उच्चरित करते हैं तो क्या माईक से प्रतिक्रमण करने पर क्या आपका प्रतिक्रमण सार्थक हो पायेगा ? क्या पौषध व्रत सुरक्षित रहेगा ? तो क्या वे आपको क्षमा प्रदान करेंगे ? आप सबका एक स्थान पर प्रतिक्रमण करना कोई जरूरी नहीं । अलग-अलग स्थान पर प्रतिक्रमण करिये, बिना माईक के भी काम चल सकता है ।" उन्होंने कहा— इतने स्थानों पर प्रतिक्रमण कौन सुनायेगा ? बीकानेर के भाई सुन्दरलालजी कोठारी वहीं उपस्थित थे वे बोले, "प्रतिक्रमण सुनने वाले भाईयों की व्यवस्था मैं कर दूंगा ।" घाटकोपर संघ इस बात पर सहमत हो गया और चार-पांच स्थानों पर प्रतिक्रमण सुनाने वालों की व्यवस्था की गयी । प्रतिक्रमण करने के बाद भाई मेरे पास पहुंचे और कहने लगे "म. सा. आज जैसा प्रतिक्रमण हमने कभी नहीं सुना था । प्रतिवर्ष तो माइक भी चलता है और हमारी बातें भी । लेकिन हमने विधिपूर्वक तन्मयता से प्रतिक्रमण किया है । हमने आज प्रतिज्ञा ले ली, कि हम भी प्रतिक्रमण याद करेंगे और इसी भांति प्रतिक्रमण करेंगे ।"

उसके बाद जब मेरा जलगांव चातुर्मास था तब घाटकोपर संघ दर्शनार्थ उपस्थित हुआ और कहने लगा—"म सा हमारे संघ में तो बिना माइक प्रतिक्रमण करने का प्रस्ताव पारित हो गया है ।"

इससे स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि साधक चाहे तो स्वयं माईक का उपयोग न करे और गृहस्थ को भी मुक्ति दिला देवे।

उत्सर्ग मार्ग की बात तो रहने दीजिए किन्तु अधिक व्यक्तियों को सुनाने हेतु ध्वनि विस्तारक यंत्र के उपयोग के लिए अपवाद मार्ग भी लागू नहीं होता। इस पर यदि कोई तर्क करे कि संत सती वर्ग जैसे अपवाद रूप में अन्य मार्ग न होने पर हरी घास पर भी अपवाद स्वरूप चलते हैं दवाई आदि का प्रयोग उपयोग भी अपवाद स्वरूप करते हैं तव फिर विशाल समुदाय के कान तक नहीं पहुंचने वाली आवाज को उन तक पहुंचाने के लिए माइक का प्रयोग क्यों नहीं करते? इसका समाधान यह दिया जा सकता है कि अन्य मार्ग न होने पर घास पर चलना एवं दवा आदि लेना अपवाद स्वरूप मार्ग है परन्तु ध्वनिवर्धक यंत्र के साथ इन तर्कों का सम्बन्ध जोड़ने से यह आवश्यक हो जाता है कि पहले अपवाद तथा उत्सग को समझा जाये। उत्सर्ग–राजमार्ग को उत्सर्ग कहते हैं, जैसे पांच महाव्रत, तीन गुप्ति आदि।

अपवाद—'उत्सगति, परिभ्रस्टस्य अपवाद गमन' उत्सर्ग मार्ग से जब गिरने का प्रसंग आता है, तब अपवाद मार्ग में प्रवृत्ति-गमन होता है।

जैसे थोड़ी-थोड़ी वर्षा बरस रही हो तो उसमें भिक्षाचर्या के लिए सन्त-सती नहीं जा सकते, यह उत्सर्ग मार्ग है, पर इसका अपवाद भगवान ने बतलाया कि चाहे जोरदार वर्षा बरस रही हो, किन्तु लघु शंका अथवा दीर्घ शंका का प्रसंग उपस्थित होने पर गमन कर सकता है। उत्सर्ग और अपवाद एक ही मार्ग के लिए लागू होते हैं। संयम मार्ग की आराधना का जो राजमार्ग है—वह उत्सर्ग है, पर वही संयमी जीवन जब खतरे में पड़ता है तब उसके लिए अपवाद में गमन होता है।

प्रश्न में जो भी तर्क उपस्थित की गई हैं वे सब संयमी जीवन के खतरे में पड़ने पर अपवाद मार्ग में ग्रहण करने की हैं।

श्रोताओं को सुनाने की दृष्टि से ध्वनिवर्धक यन्त्र में बोलना उस अपवाद में ग्रहीत नहीं होता क्योंकि कदाचित् कोई साधक नहीं

बोलकर मौन रखता है, तो उसके संयमी जीवन को कोई खतरा नहीं आता, बल्कि मौन साधना से संयमी जीवन में निखार आता है किन्तु यदि अस्वस्थ है और उपचार नहीं करवाता है तो उससे संयमी जीवन को खतरा पैदा हो जाना सम्भव है। साधु जीवन का मुख्य उद्देश्य उपदेश देने का नहीं है, उसका मुख्य उद्देश्य आत्म-साधना करना है। आत्म-साधना करते हुए अपनी मर्यादाओं में रहता हुआ जितना परोपकार उपदेशादि कर सकता हो करे, पर महाव्रतों में दोष लगाकर नहीं। अतः उत्सर्ग में तो श्रोताओं को सुनाने की दृष्टि से ध्वनिवर्धक यन्त्र का प्रयोग वांछनीय हो ही नहीं सकता किन्तु अधिक व्यक्तियों को सुनाने के लिए अपवाद मार्ग भो लागू नहीं होता इसलिए स्थानकवासी सम्मेलनों में भी स्वीकार किया गया—"ध्वनिवर्धक यंत्र में बोलना, मुनि धर्म की परम्परा नहीं है।" अतः तेजस्काय के आरम्भ, समारम्भ से निवृत्त साधक के लिए ध्वनि विस्तारक का प्रयोग कहां तक उचित है ? इसका निर्णय विवेकशील पाठक स्वयं कर सकते हैं। इसी प्रकार साधक विद्युत से संचालित पंखा, बिजली, टेलीविजन आदि आदि का उपयोग हिंसा से बचने के लिए न करे।

तेजस्काय की हिंसा से विरत अणगार वायुकाय के जीवों के प्रति भी पूर्ण अहिंसा का पालन करता है। वायुकाय की विराधना न हो एतदर्थ शास्त्र में चौबीस अंगुल लम्बी तथा सोलह अंगुल चौड़ी मुख वस्त्रिका को मुंह पर लगाने का निर्देश किया गया है क्योंकि भगवती सूत्र में "खुले मुंह बोलने वाले को सावद्य भाषी कहा है। सावद्य भाषी का तात्पर्य—पापकारी, हिंसाकारी भाषा बोलने वाले से है। खुले मुंह बोलना सावद्य भाषा है, क्योंकि जब कोई व्यक्ति खुले मुंह बोलता है तो उसके मुंह से बाहर निकलने वाली गर्म हवा वायु-मण्डल में विद्यमान वायुकायिक जीवों के लिए शस्त्र रूप सिद्ध होती होती है। ऐसी स्थिति में किसी भी प्रकार के हिंसादि शस्त्र का प्रयोग नहीं करने वाला साधक यदि मुख पर मुख-वस्त्रिका लगा लेता है तो उसके आठ पुटों में से छनकर निकलने वाली हवा स्वतः उष्ण नहीं रह पाती। परिणाम स्वरूप वह वायुकायिक जीवों की हिंसा से भी बच जाता है।

मुख-वस्त्रिका को बांधने की एक विशेष प्रक्रिया है। उसे

मुंह पर टिकाने के लिए चार पुटों के मध्य एक धागा डाल दिया जाता है जिसे दोनों कान के पीछे लगा दिया जाता है। इस त की मुख-वस्त्रिका से वायुकायिकी जीव हिंसा से बचा जा सकता है यद्यपि इस मुख-वस्त्रिका के धागे का वर्णन शास्त्र में नहीं मिल तथापि इसे शास्त्र सम्मत ही माना जाता है क्योंकि जैसे साध्वियों लिए साड़ी पहनने का विधान किया गया है लेकिन वहां नाड़ी चर्चा नहीं की गयी है फिर भी साड़ी टिकाने के लिए नाड़ी को सम्मत माना है वैसे हो मुख वस्त्रिका को टिकाने के लिए धागा शास्त्र सम्मत है।

मुख वस्त्रिका का अन्य दृष्टियों से भी महत्व है, जब निर्ग्र प्रवचनादि के लिए जन समुदाय के मध्य बैठता है तब मुख वरि के कारण उसका थूक भी श्रोताओं पर नहीं गिर सकता यह सभ्यता, संस्कृति और अहिंसा पालन का प्रतीक है। भयंकर संक्रा बीमारियों को फैलाने से रोकने में मुख वस्त्रिका परम-उपयोगी है इस सन्दर्भ में एक उदाहरण दिया जा सकता है। एक बार पण्डि जवाहरलाल नेहरु मध्यप्रदेश का दौरा करने गये। उनके भोजना की व्यवस्था करने वाले जिला कांग्रेस अध्यक्ष श्री मूलचन्दजी देशलह थे। मूलचन्दजी ने वार्तालाप करते हुए नेहरु जी से कहा—"आज आपको खोटा खाना नहीं खिलाऊंगा।" नेहरु जी ने प्रश्न किया "क्या ?" मूलचन्दजी का उत्तर था, "मैं जैन हूं इसलिए" नेहरु ने पूछा "कौन से जैन ?" मूलचन्दजी का उत्तर था "मुंह पर कप लगाने वाले जैन।" नेहरु जी बोल उठे हां—हां मैं जानता हूं, उ मार्ग बड़ा वैज्ञानिक मार्ग है। देहली में जब छूआछूत की बीमारी फैल रही थी, तब चिकित्सकों ने जनता को परामर्श कि खुले मुंह कोई न रहे अन्यथा रोग की भयंकरता और बढ़ स है। यह प्रसंग स्पष्ट करता है कि मुंह पर कपड़ा लगाने वाले सम्प्र का मार्ग कितना वैज्ञानिक है।

हम सभी जानते हैं कि ऑपरेशन थियेटर में भी चिकि मुंह पर कपड़ा बांधकर ऑपरेशन करते हैं ताकि न रोगी के कीटा चिकित्सक के मुंह में प्रवेश करें और न चिकित्सक के श्वास कीटाणु रोगी के रोग को विषम बना सके। प्राचीनकाल में मुंह

कपड़ा रखकर बोलने की शैली शिष्ट शैली मानी जाती थी इसीलिए दूल्हा जब बारात सजाकर जाता तब वह रूमाल मुंह पर रखता था। कई लोग प्रश्न करते हैं "आप कपड़े की मुख-वस्त्रिका पर सफेदा–वार्निश आदि क्यों नहीं करते क्योंकि वार्निश करने से मुख–वस्त्रिका को बार-२ धोना नहीं पड़ेगा और मुंहपत्ति जमाने के लिए समय भी खर्च नहीं करना पड़ेगा।" प्रश्नकर्त्ताओं का प्रश्न उचित दीखता है तथापि कपड़े पर यदि वार्निश आदि का विलेपन कर दिया जाये तो धनीभूत बना वह वस्त्र मुंह से निकलने वाली उष्णता कम करने में समर्थ नहीं रहेगा। परिणाम स्वरूप ऐसी मुख-वस्त्रिका लगाने से हिंसा से बच पाना सम्भव नहीं होगा। साथ ही वार्निश की चमक-दमक से युक्त मुख-वस्त्रिका शृंगार भाव की पोषिका भी बन जायेगी। जो निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारियों के लिए सर्वथा त्याज्य है।

इस सन्दर्भ में यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब तीर्थंकर भगवान् मुख-वस्त्रिका धारण नहीं करते थे तब साधु के लिए मुख–वस्त्रिका का धारण करना क्यों आवश्यक है? उत्तर स्पष्ट है, बिना मुख-वस्त्रिका से बोलने पर निर्ग्रन्थ सावद्य भाषी कहलायेगा फलतः वह हिंसा से बच नहीं पायेगा जबकि तीर्थंकर देव प्रभु महावीर को मुख वस्त्रिका धारण नहीं करने पर भी छद्मस्थावस्था में हिंसा जनित दोष नहीं लगा था क्योंकि आचाराङ्ग सूत्र में कहा है—

"णच्चाणं से महावीरे जोणीविय पावगं सयमकासी।
अन्नेहिं वा न कारित्था करं तं वि नाणुजाणित्था।"

—आचाराङ्ग सूत्र १, ६, ४, ८

किं च ज्ञात्वा हेयोपादेयं स महावीरः कर्म प्रेरण सहिष्णुः नाऽपि च पावकं कर्म स्वयकार्षीत्, नाप्यन्यैश्चीकरत, न च क्रियमाणपरैरनुज्ञात-वान् अर्थात् हेय एवं उपादेय वस्तु के ज्ञाता, कर्म की प्रेरणा को सहन करने में समर्थ भगवान महावीर ने न स्वयं पाप कर्म किया, न दूसरे से करवाया और न पाप कर्म करने वाले को अच्छा समझा। छद्म–स्थावस्था में तीर्थंकर देव प्रायः मौन रहते हैं और कदाचित् कभी किसी से बोलने का प्रसंग भी उपस्थित हो जाये, तो वे अपने ज्ञान में जैसा देखते हैं, तदनुरूप आचरण करते हैं। वे आगम व्यव-

हारी होते हैं तथा किसी भी दोष का सेवन नहीं करते। इसलिए छद्मस्थ अवस्था में भी वे तीनकरण तीनयोग से वायुकाय की हिंसा नहीं करते।

इसका कारण छद्मस्थावस्था में तीर्थंकर देव महावीर ने भी वायुकाय की हिंसा नहीं की और केवल ज्ञान होने के बाद वे जीवों के प्रत्यक्ष दृष्टा बन जाते हैं, अतः मुख वस्त्रिका धारण नहीं करने पर भी वे जीव विराधना नहीं करते।

इन्हीं स्थितियों का अनुमान कर तीर्थंकर देव प्रभु महावीर ने अपने समस्त साधकों के लिए मुख वस्त्रिका का विधान किया था। स्वयं गौतम गणधर जो महावीर के प्रमुख शिष्य थे, वे भी मुख-वस्त्रिका मुंह पर लगाते थे। इसका प्रत्यक्ष लाभ भी उन्हें प्राप्त हुआ। अन्तगड़दशांग सूत्र में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वहां कहा गया है जब गौतम गणधर भिक्षाचर्या के लिए पधारे, तब एवन्ता-कुमार ने उन्हें देखकर उनकी अंगुली पकड़ ली। उस समय गौतम गणधर के एक हाथ में पात्र थे, दूसरा हाथ एवन्ता कुमार ने पकड़ लिया था। एवन्ता कुमार ने उस समय गणिवर गौतम से जो—जो प्रश्न पूछे उनका उत्तर भी दिया था। उस समय यदि मुख वस्त्रिका उनके मुंह पर नहीं होती तो दोनों हाथ अवरुद्ध होने से गौतम गण-धर निरवद्य भाषा कैसे बोलते? मुख वस्त्रिका का उपयोग न करने पर प्रायश्चित्त आने के सन्दर्भ भी मिलते हैं। मुख वस्त्रिका की उप-योगिता पाश्चात्य विद्वानों ने भी प्रतिपादित की है "मिस्टर हर्नल ने उपासकदशांग की अंग्रेजी टीका में लिखा है—"एक छोटा टुकड़ा गौतम गणिवर के मुंह पर लगा हुआ था, जिससे कोई सचेतन प्राणी मुंह में प्रवेश न कर सके।"

मुख वस्त्रिका का समर्थन करते हुए मन्दिर मार्गी सम्प्रदाय के आचार्य देवसूरिजी ने समाचारी प्रकरण ग्रन्थ में लिखा है—

"मुख वस्त्रिकां प्रतिलेख्य मुखे बद्धवा प्रति लेखयंति रजोहरणम्।"

अर्थात् साधक मुख वस्त्रिका का प्रतिलेखन करके मुंह पर बांधकर फिर रजोहरण की प्रतिलेखना करें। आवश्यक वृहदवृत्ति (जिन भद्रसूरिकृत)।

मुख वस्त्रिका मुंह पर ही बांधी जाती है इसको स्पष्ट करते हुए 'श्री मुहपत्ति चर्चा सार' पुस्तक जिसके सम्पादक पन्यास जी महाराज श्री रत्न विजय जी गणि हैं। उसमें वे (पृष्ठ १३) पर लिखते हैं साधु विधि-प्रकाश में कहा है—

"क्षमाश्रमणं भगवन् ! पडिलेहणं करेमि 'इच्छं' इत्युक्त्वा मुख वस्त्रिकां कायं च प्रतिलिख्य, तां मुखे दत्वा—रजोहरणमु द्द ष्टय ....इत्यादि।"

यहां मुखे दत्त्वा का अर्थ 'मुंह पर बांधकर' है इस सम्बन्ध में इसी पुस्तक के पृष्ठ १६ पर कहा है—

प्रश्न—'मुखे दत्त्वा' शब्दनो अर्थ 'मुखे बांधवी' ऐवो शी रीते करवो ?

उत्तर—मोढे देवी एटले एक हाथवती मोढे धरी राखवी ऐवो अर्थ लईए, तो बन्ने हाथ थी उपरनी चीजों नु पडिलेहण शी रीते थई शके ? बे हाथ थी करवानी क्रियाओं एक हाथे शी रीते थई शके? माटे मोढे बांध्या बिना मुखे दत्त्वा नो बीजो अर्थ घटीज शकतो नथी माटे मुख्य अर्थ नो बाध होवा थी लक्ष्यार्थ लेवोज पडशे।

नव तत्त्व प्रकरण वृत्ति में तो मुख वस्त्रिका बांधने वाले साधक के ही वचन गुप्ति होती है ऐसा उल्लेख करते हुए कहा है—

"वचन गुप्तिर्द्विधा, भ्रू संज्ञादि परिहारान्मौनाभिग्रहः, वाचना-पृच्छनादिषु मुखवस्त्रिकयाऽऽच्छादितमुखस्य भाषणमात्रस्यापि वाग्नियंत्रणं वचन-गुप्तिः। (उद्धृत मुहपत्तिचर्चासार, वही, पृष्ठ १८)

योगशास्त्रवृत्ति एवं प्रवचनसारोद्धार पत्र १६७ पर इसी की पुष्टि करते हुए लिखा है—

"वाचना पृच्छनादिषु पृष्टव्याकरणादिषु च लोकागमाविरोधन मुख वस्त्रिकाऽऽच्छादित वक्त्रस्य भाषणमात्रस्यापि वाग्वृत्तेः संवृत्तिः वाग्नियन्त्रणं द्वितीय वाग्गुप्तिः।

आचार दिनकर ग्रन्थ में सूक्ष्म जीवों की हिंसा से बचने के लिए मुख वस्त्रिका बांधने की पुष्टि करते हुए कहा है—

मुख वस्त्रिका तु निरन्तरं सूक्ष्म जीव-निवारणार्थम्, त्रस—(रजो)—रेणु प्रमार्जनार्थं भवति । तथा आच्छादित—वदनस्च नासामुख-समारोपेण न हन्यन्ते सूक्ष्मजीवाः ।

(उद्घृत श्री मुहपत्तिचर्चा सार पृ. ३७)

शतपदी में भी संपातिमादि जीवों की रक्षा के लिए मुख-वस्त्रिका बांधने की अनिवार्यता बतलाते हुए कहा है—

मुख वस्त्रिकां बिना कथं मुखे मशक—मक्षिकादि संपतिम जीवोदक बिन्दु-प्रवेशरक्षा ? कथंच क्षुत् कासित जम्मृतादिषु देशनादिषु चोष्णमुख-मारुत विराध्यमान बाह्य वायुकायिकरक्षा ? कथंच रजोरेणु प्रवेश रक्षा ? परं प्रति निष्ठ्यूतलवस्पर्शरक्षा च विधातुं शक्या ? इत्यादि ।" (उद्घृत श्री मुहपत्ति चर्चा सार पृ. ४६)

आवश्यकचूर्णि के प्रतिक्रमण अध्ययन में मुख वस्त्रिका मुंह पर बांधते का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"जाईचेव कालगतो ताहे चेव हत्थपादा उज्जू धारिज्जंति ? पच्छा छट्ठाण सक्कंति, अच्छीण समं मिलिज्जंति । तुडं च से मुहपोत्ति-याए बभन्ति ।" (उद्घृत मुहपत्ति चर्चा सार पृ. ७५)

व्यवहार भाष्यवृत्ति में भी मुख वस्त्रिका मुंह पर बांधने का उल्लेख करते हुए लिखा है—

तथा—तस्मिन् परिष्ठाप्यमाने चिह्नार्थं यथाजातमुपकरणं पार्श्वे स्थापनीयम् ।

तद्यथा—रजोहरणम्, तथा मुहपोतिकया मुख बन्धनं चोलपट्टादि ।

जिनभद्रसूरिकृत विधिप्रपा. में भी मुख वस्त्रिका को मुंह पर बांधनें का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"दिया वा राउ वा परोक्खं मुहस्स मुंह मुहपोत्तियाए वज्झइ ......।" (उद्घृत श्री मुहपत्ति चर्चा सार पृ. ७६)

धर्मसंग्रह ग्रन्थ में भी मुख वस्त्रिका—मुंह पर बांधने का ल्ले. करते हुए लिखा है—

चौलपट्टं परिहाविय मुंहपत्ति मुहे बंधिय, बीअं-वत्थं हिट्ठा पत्थरिय, इत्यादि । (उद्धृत श्री मुहपत्ति चर्चा सार पृ. ७९

व्यवहार भाष्यवृत्ति और धर्म संग्रह में मुंहपत्ति बांधने का उल्लेख करते हुए कहा है, "मुंह मुहपोत्तियाएं बज्झोई अर्थात् मुंह पर मुख-वस्त्रिका बांधनी चाहिए । शिवपुराण तो मुख-वस्त्रिका को जैन साधुओं की पहिचान ही मानता है । वहां अध्ययन एक्कीस श्लोक चौबीस में जैन साधुओं का परिचय देते हुए कहा गया है, "जो हाथ में पात्र धारण करते हैं, मुख पर वस्त्र लगाते हैं, वे जैन साधु हैं ।"

महानिशीथ सूत्र की पहली चूलिका में लिखा है—

"मुहणंतगेणं विणा इरियं पडिक्कमेज्जा ।
वयण पडिक्कमणं वा करेज्जा, जमासज्जा वा ।
सज्जायं वा करेज्जा, वापणादि सव्वत्थं परियड्ढु ।"

अर्थात् मुख वस्त्रिका लगाये बिना इरियावही करे, वन्दन करे, प्रतिक्रमण, जम्भाई, स्वाध्याय, वाचनादि करे तो साधक को प्रायश्चित्त आता है ।

आचार्य श्री वल्लभ—विजय जी ने उनके पत्र में मुख-वस्त्रिका बांधने को परम्परागत मानते हुए लिखा है, "मुखपत्ती विषय में हमारा इतना ही निवेदन है कि मुहपत्ती बांधनी अच्छी है । और घणे दिनों से परम्परा चली आई है । इनको लोपना अच्छा नहीं । हम बंधणी अच्छी जानते हैं ।

१९६७ कत्तकवदि,ऽऽ वार-बुध

"दस्तखत—वल्लभ विजय जो की वंदणा वांचनी दिवाली के रोज दस बजे चिट्ठी लिखी है ।"

आचार्य श्री विजय नीति सूरीश्वर जी महाराज ने 'श्री मुंखपत्ती चर्चासार" पुस्तक जिसको पन्यास रतन विजय जी गणि ने संग्रहीत किया, उसमें लिखा है, "व्याख्यानादिक प्रसंगोऽे मुहपत्ती बंधन ऽे शास्त्रीय अने सुविदित पुरुषों से करे ली अने आचरेली, अविछिन्न परम्पराएं चलती अरवती प्रवृत्ति छे । एवी हमारी सम्पूर्ण खातरी छे,

अने श्रद्धा छे । आ पुस्तकमाँ आँ आपवायाँ आवेला पूर्णाचार्यों ना ग्रंथों ना उल्लेखो जो वांयाते सविशेष दृढ़थाय छे ।"

इसी पुस्तक के आमुख में प्रकाशक महोदय ने लिखा है, "लगभग आज थी पोणो सो अेंशी वर्ष पहेला श्वेताम्बर मूर्ति पूजक संघ मां कोइ पण गच्छ, समुदाय, के उपाश्रय अेवो न हो तो के जेमां मुहपत्ती बान्ध्या विना नु व्याख्यान वंचातु के सम्हलातु होय ।"

इन सब प्रमाणों से इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि समस्त साधकों के लिए मुख वस्त्रिका मुंह पर लगाना शास्त्र सम्मत एवं परम्परागत है ।

मुख वस्त्रिका के उपयोग के सम्बन्ध में एक अन्य प्रकार की शंका भी की जाती है—"मुहपत्ति मुख पर बांधने से मुंह का थूंक उस पर गिरेगा, तथा उसमें समूच्छिम जीवों की उत्पत्ति होगी अतः समूच्छिम जीवों की विराधना न हो इसलिए मुंह पर मुहपत्ति नहीं लगानी चाहिए । ऐसी शंका करने वालों को ज्ञात होना चाहिए कि थूंक एक प्रकार का रासायनिक तत्त्व है । उसमें अन्य रासायनिक तत्त्वों की तरह नैसर्गिक रूप से समूच्छिम जीवों की उत्पत्ति नहीं होती है । इसलिए प्रभु महावीर ने जहां मुंह से निकलने वाले कफ, पित्त और वमन इन तीन विकृत पदार्थों मे अन्तर्मुहूर्त के बाद समूच्छिम की उत्पत्ति होना बतलाया, वहां यदि थूंक में भी समूच्छिम की उत्पत्ति होने का प्रसंग होता तो भगवान् मुंह के तीन समूच्छिम के स्थान पर चार समूच्छिम स्थान क्यों न बतलाते ?

थूंक की रासायनिकता का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव है जब मैं बच्चपन में था तब मेरे सिर पर एक फोड़ा हो गया था । वह फोड़ा इतना विकृत वन गया कि उसने नासूर का रूप धारण कर लिया । उस समय गांवों चिकित्सा के पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं थे । मेरी सांसारिक माताजी को चिन्ता हुई कि अब क्या करें ? इतने में एक कुम्हारिन जिसे हम सांसारिक अवस्था की दृष्टि से भुआ जी कहते थे, आई और कहने लगी "आपको चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं । सवेरे का बासी थूंक शिला पर रख लेना तथा मिट्टी का ढक्कन (जिसे ढक्कनी कहा जाता है) घिसकर वह थूंक नासूर पर लगा देना

जिससे बिना किसी दवाई के फोड़ा ठीक हो जायेगा। मेरी सांसारिक माताजी ने ठीक वैसा ही किया और नासूर ठीक हो गया। इससे थूंक की रासायनिक प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाती है।

इतिहास में भी इस सम्बन्ध में उदाहरण प्राप्त होते हैं। सनत्कुमार चक्रवर्ती जब मुनि बने तब उनके सारे शरीर में कुष्ठ रोग हो गया था। उनके समभाव की परीक्षा लेने के लिए देव वैद्य का रूप बनाकर आया और बोला "मुनिवर मैं आपकी व्याधि मिटाना चाहता हूं।" मुनि बोले, "कौनसी व्याधी? कर्म की व्याधि यदि मिटाना चाहते हो तो मैं तैयार हूं और यदि शारीरिक व्याधि मिटाना चाहते हो, तो उसकी कोई आवश्यकता नहीं है, उसे तो मैं स्वयं चाहूं तो मिटा सकता हूं।" वैद्य ने पूछा कैसे ?

मुनि सनत्कुमार ने एक अंगुली पर थूंक लगाया और पूरी अंगुली पर फेर दिया सारी अंगुली कंचन के समान बन गयी। यह थूंक का प्रभाव था। जो व्याधि को शमित करने में प्रबल सहायक बना था। इस प्रकार शास्त्रीय और वैज्ञानिक दृष्टि से भी थूंक को विकृति मानकर उसमें समूर्च्छिम की उत्पत्ति मानना संगत नहीं है। यद्यपि मूत्र भी रासायनिक तत्त्व हो सकता है, लेकिन उसमें तो ४८ मिनिट पश्चात् समूर्च्छिम की उत्पत्ति सम्भव हो जाती है, इसका कारण यह है कि मूत्र तो त्याज्य पदार्थ है। परन्तु थूंक विकृत पदार्थ अथवा त्याज्य पदार्थ नहीं है उसको शरीर स्वयमेव पुनः ग्रहण कर लेता है। थूंक एक ग्रंथि का रस है जो पाचनादि क्रिया में सहायक है।

यह थूंक एक प्रकार से अमृत के तुल्य है। जब व्यक्ति क्रोध में आता है तो यह ग्रंथि अपना कार्य करना कम कर देती है तब मुंह सूखने लगता है और पानी पीने की इच्छा होती है। इस प्रकार जीवन चलाने के लिए अमृत तत्त्व थूंक है। उनमें समूर्च्छिम की कल्पना करना निरर्थक है।

जिस प्रकार वायुकायिक जीवों की रक्षा के लिए साधक मुंह पर मुंहपत्ति लगाता है, उसी प्रकार वायुकायिक जीवों की रक्षा के लिए ही पंखे से हवा न करे, ताली चिमटी भी न बजाये, अपने वस्त्रों को भींत पर लटका कर अथवा डोरी बांधकर उस पर न सुखाये,

दूसरे से भी ऐसा कार्य न करवाये और न ही करते हुए को अच्छा समझे।

वायुकायिक हिंसा से विरत बना हुआ अणगार वनस्पति और त्रसकाय की हिंसा से विरत रहता है। वह किसी भी प्रकार की फल-फूलादि वनस्पति को स्वयं किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं पहुंचाता है, न दूसरों द्वारा पुष्पों आदि को तोड़कर अर्चा श्रृंगार आदि किये जाने को अच्छा समझता है और न ही कोई सचित्त वनस्पति फल-फूल आदि से श्रृंगार अर्चादि भी करे तो उसका अनुमोदन करता है।

वनस्पतिकाय का शोषण तो प्रकृति का शोषण है। आज का भौतिकवादी मानव घने के घने जंगल कटवाकर शानदार बंगले बनाना उपयुक्त समझ रहा है। वस्तुतः वनस्पति का इस प्रकार का दोहन ही आज के प्रदूषण का प्रबल कारण बन गया है क्योंकि वनस्पतियां श्वास लेने में कार्बन डाई ऑक्साईड ग्रहण करती है। और बदले में ऑक्सीजन छोड़ती है। यही ऑक्सीजन प्राणी की प्राण पोषक है। ऐसी प्राणवायु प्रदायक वनस्पति का विनाश कर समग्र मानव जाति के लिए अपराध के भागी बनेंगे। यदि मनुष्य इस प्रकार वनस्पति का दोहन करता ही रहा तो मानव जाति का क्या हाल होगा? यह विचार का विषय है। इसलिए सजग होकर वनस्पति की हिंसा से बचना चाहिए।

वनस्पति हिंसा की तरह ही द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की भी हिंसा न हो एतदर्थ साधु दिन में उन प्राणियों को बचाता हुआ देखकर तथा रात्रि में रजोहरण से पूंजकर चलता है। इस रजोहरण की डण्डी इतनी लम्बी होनी चाहिए जिससे खड़ा-खड़ा सुगमता पूर्वक पूंजकर चल सके। छोटी डण्डी होने पर पूंजना दुःशक्य होने से साधक पैरादि के नीचे आने वाले जीवों की हिंसा से बच नहीं सकेगा। साधु को किस प्रकार का रजोहरण धारण करना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए वृहत्कल्प सूत्र के द्वितीय उद्देशक के छब्बीसवें सूत्र में कहा है—"कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं पंच रयहरणाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा तंजहा—उण्णिए, उट्टिए, वच्चाचिप्पए, मुंजचिप्पए नाभ पंचमे।"

अर्थात् साधु-साध्वियों को द्वीन्द्रियादि जीवों की रक्षा के लिए पांच प्रकार का रजोहरण धारण करना कल्पता है—

१. ऊन का २. ऊंट के रोम से बना ३. शण सूत्र का बना ४. वल्कल को कूटकर बनाया हुआ ५. मूञ्ज को कूटकर बनाया हुआ।

भाष्यकार ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"साधक को यदि ऊन का रजोहरण प्रासुक मिल जाये तो दूसरे प्रकार के रजोहरण ग्रहण नहीं करने चाहिए। यदि कदाचित् ऊन का रजोहरण न मिले तो क्रमशः उत्तरोत्तर रजोहरण ग्रहण कर सकता है।" रजोहरण के सम्बन्ध में कई लोग सुझाव देते हैं—"आप रजोहरण के ऊपर किसी प्रकार का आवरण क्यों नहीं लगते क्योंकि आवरण सहित रजोहरण कम गन्दा होगा तथा उस हेतु प्रक्षालन (धोने) की क्रिया भी कम करनी पड़ेगी।" ऐसा सुझाव कोई महत्व नहीं रखता क्योंकि यदि रजोहरण पर किसी भी प्लास्टिकादि का आवरण चढ़ा दिया जाये तो रजोहरण रखने का जो जीव-रक्षा का उद्देश्य है, वह सफलीभूत नहीं होगा क्योंकि प्लास्टिकादि के आवरण जीवों के लिए शस्त्र रूप बन सकते हैं। इसीलिए भगवान् ने रजोहरण पर किसी भी प्रकार आवरण लगाने का आदेश नहीं दिया है, अन्यथा जैसे रजोहरण की डण्डी पर कपड़ा लगाने का निर्देश दिया है, वैसा निर्देश रजोहरण के लिए भी देते।

एक अन्य दृष्टि से प्लास्टिकादि का आवरण आसक्ति का कारण ही कहा जायेगा जो अपरिग्रह महाव्रत को खण्डित करेगा यदि आसक्ति नहीं तो आवरण की आवश्यकता भी नहीं साथ ही प्लास्टिकादि की चमक शृंगारिकता के प्रति आकर्षण का बोध भी करा सकती है। इस प्रकार तो यही सिद्ध होता है कि छज्जीवनिकाय का रक्षक ही हिंसा जनित ग्रंथियों का विमोचन करने में सक्षम है, वही असत्य भाषण, कटुभाषणादि से निर्मित ग्रंथियों का विमोचन कर सकता है क्योंकि असत्य भाषण, कटु भाषण भी मानसिक संक्लेशदायी होने से हिंसा का ही एक रूप है। परिपूर्ण अहिंसक ही परिपूर्ण सत्य का पालन कर सकता है। अतः निर्ग्रन्थ के लिए ही द्वितीय सत्य महाव्रत का विधान तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा किया गया है।

सांसारिक बन्धनों से रहित अकिञ्चन निर्ग्रन्थ का जीवन कठिन नियमों से नियन्त्रित जीवन है। कदाचित् किसी भी निर्ग्रन्थ के मन मस्तिष्क में दूसरों की वस्तुएं देखकर उन्हें ग्रहण करने की भावना और तत्सम्बन्धित ग्रन्थियां निर्मित न हो एतदर्थ महावीर ने अचौर्य व्रत का प्रावधान किया, जिससे निर्ग्रन्थ को बिना मालिक अथवा अधिकारी की आज्ञा के किसी भी वस्तु को ग्रहण करना नहीं कल्पता है। सम्पत्ति व्यक्ति का ग्यारहवां प्राण माना गया है। कदाचित् प्रिय वस्तु के अपहरण से मालिक के प्राण भी संकटापन्न हो सकते हैं। इस प्रकार तो निर्ग्रन्थ का अहिंसा महाव्रत भी खण्डित हो सकता है। अतः इस सम्बन्धी ग्रन्थि निर्माण से बचने के लिए अचौर्य महाव्रत के पालन का विधान है।

विषय-वासनाओं से आबद्ध व्यक्ति निर्ग्रन्थ नहीं बन सकता क्योंकि वासनाएं ग्रन्थि-निर्माण में प्रबल सहायक सिद्ध होती हैं। अतः वासनाओं से युक्त ग्रन्थियों के विमोचन के लिए निर्ग्रन्थ को आजीवन ब्रह्मचारी रहने का विधान आगमों में तीर्थंकर देवों द्वारा किया गया है। ब्रह्मचारी साधक को कैसे निवास स्थान में रहना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए उतराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

"जं विवितमणा इण्णं, रहियं इत्थि जणेणय।
बम्मचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए।"

अर्थात् जो स्त्री पुरुष और नपुंसक का निवास स्थान हो और जो इनके काम क्रीड़ा के योग्य बन सकता हो अथवा संध्या या रात्रि के समय स्त्रियों का आवागमन हो ऐसे एकान्त उपाश्रयादि में ब्रह्मचर्य की सुरक्षा चाहने वाला साधक न रहे। यहां शास्त्रकारों ने साधक के निवास स्थान के तीन विशेषण दिये हैं—१. विविक्तम् —अर्थात् जो जो स्थान मनुष्य जाति एवं पशुजाति की स्त्री एवं नपुंसकादि के काम क्रीड़ा योग्य बन सकता है, ऐसे स्थान पर साधु न रहे अथवा जहां साधु का निवास हो वहां पर पशु जाति की स्त्री और मनुष्य स्त्री एवं नपुंसक न रहे। यदि यहां शिष्य प्रश्न करे "ऐसे स्थान पर स्त्री जाति एवं नपुंसकादि निवास नहीं करे लेकिन उस मकान में मनुष्य स्त्री वस्तु आदि को निकालने और रखने के लिए विकाल-संध्या के

समय और रात्रि में आवागमन करे तो क्या वहां साधु ठहर सकता है ?"

शिष्य के प्रश्न के समाधान रूप द्वितीय विशेषण है अनाकीर्णम् अर्थात् जिस स्थान पर अकाल के समय (संध्या के और रात्रि में) स्त्रियां आवागमन करें तो उस स्थान पर भी साधु न रहे ।

पुनः शिष्य प्रश्न करे "वस्तु आदि को लाने, ले जाने के लिए तो स्त्रियां गमन न करें, लेकिन जैसे दिन में स्त्रियां प्रवचन-श्रवण करती हैं, उसी प्रकार रात्रि में प्रवचन श्रवण करे अथवा धर्म-ध्यान के निमित्त स्त्रियां साधु के मकान की सीमा में प्रवेश करें तो क्या आपत्ति है ।"

इसका उत्तर तीसरे विशेषण से दिया गया है—"रहियं इत्थि जणेण य" अर्थात् स्त्री जन से रहित स्थान में ही साधक रहे । अतः रात्रि में किसी भी कारण से स्त्रियां साधक के निवास-स्थान की सीमा में प्रवेश न करे । अन्यथा वह भी उसके ग्रंथि निर्माण का कारण बन जाती है । यह ग्रन्थि निर्ग्रन्थ स्वरूप में बाधक है क्योंकि पूर्व में जो ब्रह्म की मर्यादा की असुरक्षा से ग्रन्थि निर्माण बतलाया तो यह भी उसके अन्तर्गत आ जाती है । सूर्यास्त के पश्चात् एवं सूर्योदय के पहले स्त्री जाति का ब्रह्मचारी साधु के मकान की सीमा में प्रवेश होने पर यदि साधु उसका निषेध नहीं करता और अनुमोदन करता है तो निशीथ सूत्र में साधु को चातुर्मासिक दण्ड बताया है । वह निशीथ सूत्र का पाठ निम्न है—

सूत्रम्—जे भिक्खुराओ वा वियाले वा इत्थिमज्झगए ।
इत्थिं संसते इत्थि परिवुड़े अपरिमाण थाए ।
कहं कहइ कहेतं वा साइज्जइ ॥

राओ वा—रात्रो वा, वियाले वा—विकालेवा, तत्र विकालः दिवसावसाने रात्रि प्राग्भावे । रात्र्यावसाने दिवस प्राग् भावे वर्तते ।

भाष्यम्—राओयवियाले वा, इत्थि मज्झगओ मुणी ।
पमाण मइरेगेण कहाओ दोस मा वहे ॥१॥

ब्रह्मचारी संत वर्ग के निवास स्थान पर अकाल–दिवस के

अवसान एवं रात्रि के अवसान काल में तथा रात्रि के समय स्त्री जाति के लिए आना—प्रवेश करना वर्जनीय है। अत: ऐसे अकाल और रात्रि के समय में स्त्री समुदाय के मध्य तथा स्त्री से संसक्त एवं परिवृत्त न रहे। ऐसे प्रसंग पर अपरिमित वार्तालाप भी न करे।

परिमित वार्तालाप का तात्पर्य कुछ ऐसे प्रश्नोत्तरों से है जैसे जिस मकान में मुनिराज विराज रहे हैं। उस मकान के बाहर सूर्यास्त के बाद अथवा सूर्योदय के पहले कोई वहिन आये और मकान की सीमा से बाहर खड़ी रहकर पूछे—"मकान में कौन है ?" यदि वहां और कोई उत्तर देने वाला न हो तो साधु उत्तर दे, "हम साधु है।" कहां से आये हैं ? साधक उत्तर दे, "अमुक गांव से।"

स्त्री पूछे, "आप किसकी आज्ञा में विचरण करते हैं कब तक रहेंगे ?"

साधु आचार्य भगवन् का नाम निर्देशित करे और जब तक ठहरने की सम्भावना हो साधु मर्यादा में बतावे।

स्त्री प्रश्न करे, "व्याख्यान देंगे ?"

साधु उत्तर दे, "सूर्योदय के पश्चात् अवसर हो तो व्याख्यान दे सकते हैं।

इस प्रकार प्रसंग उपस्थित होने पर साधु परिमित (अधिक से अधिक पांच) प्रश्नों का उत्तर दे। इससे अधिक यदि छठे प्रश्न का उत्तर भी देता है तो उसने तीर्थंकर आज्ञा भंग-रूप दोष का सेवन किया है ऐसा माना जाता है।

यह तो वार्तालाप सम्बन्धी प्रकरण है। रात्रि प्रवचन के सम्बन्ध में कुछ इससे भिन्नता की स्थिति है। जहां साधु—सन्तों का आवागमन कम होता है और ग्रामीण जनता उनके प्रवचन सुनने हेतु अधिक लालायित हो, दिन में उनको प्रवचन सुनने का अवसर न मिले तो ऐसी स्थिति में विहार करते हुए साधु—सतीवर्ग उस गांव में पहुंच

जांये और उनको रात्रि में प्रवचन देना पड़े तो अपवाद स्वरूप एक-दो रात प्रवचन दे सकते हैं। लेकिन उसमें भी यह अवश्य ध्यान देने योग्य तथ्य है कि जिस मकान में साधु विराजमान हो उसमें यदि ऊपर छाया हो ऐसा चबूतरा मकान के बाहर हो तो उस चबूतरे पर बैठकर साधु व्याख्यान दे तो उसके सामने भाइयों की परिषद रहनी चाहिए लेकिन उस मकान की सीमा में अथवा प्रवचनकर्ता के एकदम सामने बहिने न रहें अन्यत्र बैठ सकती है। सतीवर्ग के समक्ष बहिनों की परिषद रहनी चाहिए। यदि कदाचित् उस मकान के पास थोड़ी दूर कोई चबूतरा हो वहां यदि प्रवचन करना हो तो उसकी आज्ञा दिन में लेनी चाहिएं और रात्रि में परठना करते समय जब साधु बाहर जाये तो परठने की विधि-सम्पन्न कर उस चबूतरे पर बैठकर प्रवचन दे सकता है। परन्तु प्रवचन प्रहर रात्रि व्यतीत होने के उपरान्त न दे इसका भी पूरा ख्याल रखना चाहिए।

यदि कोई व्यक्ति उपर्युक्त शास्त्र के आशय को न मानकर कुतर्क करे कि स्त्रियां जैसे दिन में आती है, वैसे रात्रि में आ जाये तो क्या अनौचित्य है? इसका तर्क संगत सहज उत्तर दिया जा सकता है कि जिस प्रकार साधु के स्थान पर सूर्योस्त के बाद एवं सूर्योदय के पहले स्त्रियों का धर्म श्रवणादि लाभ के लिए आना उपयुक्त एवं शास्त्र सम्मत माना जाये तो ठीक उसी तरह तर्क उठाने वालों की दृष्टि से साध्वियों के लिए भी सूर्योदय के पहले एवं सूर्यास्त के बाद धर्म श्रवण आदि लाभार्थ आना स्वीकार किया जाना चाहिए।

धर्म लाभ तो महिलाओं की तरह साध्वियों के लिए भी आवश्यक एवं लाभकारी है और जब संसार अवस्था की स्त्री जाति जिसके ब्रह्मचर्य की अधिकतर मर्यादा नहीं है उसके अकाल एवं रात्रि के समय आने पर कोई खतरा पैदा नहीं हो सकता तो साध्वियां तो पूर्ण ब्रह्मचारिणी एवं पंच महाव्रत धारिणी हैं। उनको भी रात्रि में धर्म श्रवणार्थ साधुओं के स्थान पर जाना चाहिए पर कहीं भी इस प्रकार की आज्ञा प्रभु महावीर ने नहीं दी। अपितु साध्वी मृगावती जब प्रभु महावीर के स्थान से देरी से आयी तो साध्वी चन्दनवाला ने उपालम्भ दिया। इससे स्पष्ट है कि कोई भी साध्वी अथवा स्त्री जाति रात्रि अथवा विकाल में साधु के स्थान पर न जाये।

उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२ गाथा तेरह में तो यहां तक कहा गया है—"जैसे-बिल्लियों के रहने के स्थान में चूहों का रहना प्रशस्त एवं योग्य नहीं है, उसी प्रकार स्त्रियों के समीप ब्रह्मचारी साधक का निवास करना उचित नहीं है।"

यदि एकान्त उपाश्रय में रहते हुए साधक की दृष्टि भी स्त्री पर गिर जाये तो तुरन्त हटा लेना चाहिए क्योंकि दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है, "जिस स्त्री के हाथ-पैर कट गये हों, नाक-कान कटी हों, सौ वर्ष की आयु वाली वृद्धा अथवा जर्जरित शरीर वाली हो तो साधु ऐसी स्त्रियों के संसर्ग को भी त्याग देवे।" जब ऐसी वृद्धा एवं कुरूपा नारी का सम्पर्क भी शास्त्रकारों ने निषिद्ध किया है तो फिर अन्य नारियों का विकाल और रात्रि के समय तो नितान्त निषेध ही है। इसलिए प्रत्येक साधक को ठहरने योग्य स्थान का सम्यक् निरीक्षण करना चाहिए तथा अपने ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए दिन में भी समझदार भाई की साक्षी के बिना स्त्रियों से बातचीत नहीं करना चाहिए।

निर्ग्रन्थ के ब्रह्मचर्य व्रत की मर्यादा अपरिग्रह व्रत की मर्यादा धारण करने पर ही सुरक्षित रह सकती है। अतः ग्रन्थि की मूल जड़, समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का परित्याग निर्ग्रन्थ करता है। घर परिवार एवं पारिवारिक बन्धनों से रहित निर्ग्रन्थ कनक कान्ता का त्यागी भी होता है। परिवार आदि बाह्य परिग्रह से ममत्व अनादिकाल से रहा है। ममत्व सम्बन्धी विषम ग्रन्थियों का विमोचन करने के लिए पारिवारिकजनों के सम्बन्ध का परित्याग आवश्यक है। जैसे किसी घासलेट के बर्तन में घी भरने के लिए घासलेट का परित्याग आवश्यक है, वैसे ही आत्मा रूपी बर्तन में संयमी रूपी शुद्ध घी भरने के लिए पारिवारिक ममतारूपी घासलेट का परित्याग आवश्यक है। तुरन्त खाली किये गये घासलेट के बर्तन में जैसे घी नहीं भरा जा सकता, उसकी दुर्गन्ध मिटाने के बाद ही घी भरा जा सकता है। वैसे ही ममतारूपी घासलेट की दुर्गन्ध श्रेष्ठ संकल्प नियमादि से मिटाने के बाद ही संयमरूपी घी भरा जा सकता है। इसके लिए निर्ग्रन्थ अणगार का परिवार त्याग रूप उपक्रम ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है।

परिवार त्यागी निर्ग्रन्थ का परिवेश एवं परिधान भी विशिष्ट

प्रकार का होना चाहिए। इसके लिए प्रभु महावीर ने साधक के लिए मर्यादित वस्त्र रखने का विधान किया है। प्रभु महावीर ने साधक के लिए ७२ हाथ वर्ग क्षेत्रफल जितना तथा साध्वी के लिए ९६ हाथ वर्ग क्षेत्रफल जितना वस्त्र ही धारण करने की अनुमति प्रदान की है। श्रमण के लिए धोती के स्थान पर चोलपट्टक तथा कुर्ते के स्थान पर चद्दर का विधान किया है। साध्वी के लिए शाटिका, चद्दर आदि का विधान किया है। रजोहरण, मुख वस्त्रिका, पूंजणी आदि का विधान साधु-साध्वी दोनों के लिए किया गया है। इन सब धार्मिक चिह्न स्वरूप वस्त्रों से निर्ग्रन्थ अणगार की पहचान सहजतया हो जाती है।

अनासक्ति भाव से वस्त्र धारण करना परिग्रह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह सकारण धारण किया जाता है अन्यथा लोक में निर्ग्रन्थ प्रवचन की निन्दा तथा वस्त्र रहित निर्ग्रन्थ के अंगोपांग देखकर कामुकता की भावना जागृत हो सकती है। वृहत्कल्प सूत्र में साधु-साध्वियों को वस्त्र धारण करने की अनुमति प्रदान करते हुए कहा गया है — "कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा भिन्नाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥" अर्थात् साधु-साध्वियों को हाथादि से माप कर फाड़े गये वस्त्र धारण करना कल्पता है। वस्त्र-सहित निर्ग्रन्थ लोक मर्यादाओं का भी उल्लंघन नहीं करता है और नहीं उसके निमित्त से वासनाओं की जागृति होती है। इन्हीं सब बातों को अपने कैवल्यालोक में देखकर प्रभु महावीर ने तीन कारण से वस्त्र धारण का विधान करते हुए स्थानाङ्ग सूत्र में कहा है—

"तिहिं ठाणेहिं वत्थं धारेज्जा तंजहा--हरिपत्तियं, दुगुंच्छा-पत्तियं, परीसह वत्तिय।" अर्थात् साधु-साध्वी तीन कारण से वस्त्र धारण करे—लज्जा निवारण के लिए, घृणा निवारण के लिए और शीतादि निवारण के लिए।

इसके अतिरिक्त साधु-साध्वियों को पांच प्रकार के वस्त्र धारण करने का विधान करते हुए वृहत्कल्प सूत्र में कहा गया है—

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं पंच वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा तंजहा—जंगिए २ भंगिए ३ साणए ४ पोत्तए ५ तिरीड़पट्टे नामं पंचमे।

अर्थात् साधु-साध्वियों को जांगमिक—भेड़ादि के बाल से बने हुए भांगिक—अलसी आदि की छाल से बने हुए शाणक जूट से बने हुए पोलक—कपास से बने हुए तिरीटपट्टक वृक्ष की छाल से बने हुए वस्त्रों को धारण करना कल्पता है ।

इन सब सूत्र पाठों से स्पष्ट है कि अनासक्ति भाव से वस्त्र धारण करना भगवान् महावीर के सिद्धान्तारूप आगम मर्यादानुरूप है परिग्रह रूप नहीं ।........

वस्त्र परिग्रह है अथवा नहीं, इस विषय में कुछ अर्से पूर्व मैंने दिगम्बर समान के पण्डित चैनसुख दासजी से विचार विमर्श किया था । जयपुर में पण्डित चैनसुख दासजी अपनी शारीरिक अस्वस्थता के कारण अपने स्वतंत्र मकान में रहते थे । उस समय सम्वत् २००६ को शान्त क्रान्ति के जन्मदाता स्वर्गीय श्री गणेशाचार्य का चातुर्मास जयपुर में ही था । स्व. आचार्य भगवन् की सेवा में जो शिष्य मंडली थी, उनमें से लगभग तीन या चार सन्त न्याय के ग्रन्थ प्रमाण मीमांसा का अध्ययन कर रहे थे । उनमें मैं भी सम्मिलित था । आचार्य भगवन् को इतना समय नहीं था कि वे अपने अन्तेवासियों को प्रमाण मीमांसा पढ़ा सके क्योंकि संघ एवं शासन व्यवस्था में पूज्य गुरुदेव काफी व्यस्त थे । अतः प्रमाण मीमांसा के दार्शनिक अध्ययन के लिए हम पंडित चैनसुख दासजी के यहां जाकर अध्ययन करते थे क्योंकि पंडित सा. के पैरों में पोलिया जैसी स्थिति होने के कारण "लाल भवन स्थानक (जयपुर)" नहीं आ सकते थे । कुछ समय तक हम अध्ययनरत रहे तब तक मैंने परीक्षण किया कि पंडित चैनसुख दास जी स्वभाव से हठाग्रही नहीं, तटस्थ वृत्ति वाले थे और उनकी तटस्थ वृत्ति का एवं विचक्षण प्रज्ञा का अवलोकन कर एक दिन उनसे प्रश्न कर ही लिया "पण्डित सा. परिग्रह की परिभाषा क्या है ? शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से परिग्रह्यते इति परिग्रहः व्याख्या होती है । यदि परिग्रह का यही स्वरूप मानें तो जैसे वस्त्र को परिग्रह की श्रेणी में परिगणित करते हैं, वैसे ही मोरपिच्छी तथा कमण्डलु को भी परि- को श्रेणि में गिनना पड़ेगा और उसका भी परित्याग करना पड़ेगा ।"

तब उन्होंने कहा "शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से जो चारों ओर से ग्रहण किया जाता है, वह परिग्रह है । लेकिन उसको हम

परिग्रह नहीं मानते। हम मूर्च्छा को परिग्रह मानते हैं क्योंकि सर्व जैन समाज को मान्य तत्त्वार्थ सूत्र में मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है।

इस पर मैंने कहा, "यदि ऐसी ही व्याख्या आपको मान्य है, तो फिर जैसे कमण्डलु और मोर पिच्छी में आसक्ति की भावना नहीं रखते हुए, उसको परिग्रह नहीं मानते हुए ग्रहण किया जाता है, वैसे ही वस्त्र पर भी मूर्च्छा की भावना नहीं रखते हुए उसको भी परिग्रह नहीं मानते हुए धारण किया जा सकता है, क्योंकि वस्त्र धारण किये बिना साधक बहुत बड़े आरम्भ समारम्भ से बच नहीं सकता।"

निर्वस्त्र मुनि को शरीर की शीतकाल से रक्षा के लिए कुछ न कुछ उपाय करना ही पड़ता है। जहां शीत रक्षा के साधन घासादि सहज सुलभ हो जाये वहां तो ठीक है, लेकिन जहां घास सुलभ न हो वहां चावलों के घास की गाड़ियां मुनियों के स्थान पर जायें उनके लिए घास की गुफाएं निर्मित की जाए तो क्या यह आरम्भ-समारम्भ परिग्रह की श्रेणी में नहीं आयेगा? इससे कई बार भीषण दुर्घटना भी घटित हो सकती है। जैसा कि एक ग्रामीण की सेवा भावना की अति के कारण हो गया था। उस ग्रामीण के मकान में दिगम्बर मुनि ठहरे थे। उस ग्रामीण मकान मालिक ने मुनि को शीत से रक्षा हेतु घास की गुफा बना दी थी। परन्तु सर्दी का प्रकोप भीषण था। अतः उसनें सिगड़ियां जला कर उस गुफा के चारों ओर रख दी और बाहर से दरवाजे में सांकल लगा दी। संयोग से एक चिनगारी घास में उछली और आग धूं-धूं करके जलने लगी बाहर निकलने का मार्ग अवरुध होने से मुनिजी स्वयं की आग से रक्षा नहीं कर पाये।

साथ ही निर्वस्त्र मुनि प्रत्येक बस्ती में नहीं जा सकते परिणाम स्वरूप उनको प्रत्येक स्थान पर प्रासुक आहार-पानी नहीं मिलता अतः वाहनों में उनके पीछे-पीछे खाद्य-सामग्री चलती है और उन मुनियों के लिए भोजन भी तैयार करना पड़ता है। यद्यपि वस्त्र को परिग्रह मानने पर भी इस प्रकार के आरम्भ-समारम्भ से बचा नहीं जा सकता तथापि वस्त्र धारण करने पर ही इस प्रकार की हिंसा से बचा जा सकता है।

इन सब बातों को श्रवण कर चैनसुख जी कहने लगे, आपने तो आज प्रश्न किया मैंने दिगम्बर मुनियों को कई बार समझाया कि

"आप मर्यादित वस्त्र में रह सकते हैं तथा जैसे कमण्डलु मोर पिच्छी पर आसक्ति नहीं रखते हुए आप उनको ग्रहण करते हैं वैसे ही वस्त्र ग्रहण करने में किसी प्रकार का दोष नहीं है। मर्यादित वस्त्र रखने पर भी आपके संयम पालन में कोई बाधा नहीं आयेगी। यदि आप वस्त्र को परिग्रह मानते हैं और वस्त्र पसन्द नहीं करते तो फिर आपको स्त्री परिषद् के मध्य बैठकर प्रवचन नहीं करना चाहिए। लेकिन दिगम्बर मुनि इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं थे क्योंकि वे प्रायः प्रौढावस्था में संयम अंगीकार करते हैं और प्रज्ञा के अभाव में लकीर के फकीर बने रहते हैं। जब हमारी इन शास्त्र सम्मत बातों को उन्होंने नहीं माना, तब हमने उनसे सम्पर्क तोड़ लिया और बाबू पार्टी नामक संस्था का निर्माण कर लिया है। अब हम तत्त्वार्थ को मोक्ष मार्ग कहते हैं और उसी का स्वाध्याय करते हैं।

वस्त्र धारण का उल्लेख श्वेताम्बर ग्रन्थों में ही नहीं, दिगम्बर ग्रंथों में भी है ऐसा विद्वानों का मानना है। जब मेरा चातुर्मास देहली में था, तब दिगम्बर समाज में परस्पर संघर्ष की बातें श्रवण करने को मिली। विश्वस्त व्यक्तियों ने आकर इस बारे में जानकारी दी—"दिगम्बर समाज के सर्वमान्य जय धवला—महाधवला ग्रन्थों में स्त्री को वस्त्र सहित संयमी माना है। इस प्रकरण को पढ़कर दिगम्बर समाज के विद्वानों ने कहा—"हम व्यर्थ ही श्वेताम्बर समाज से झगड़ा करते हैं क्योंकि हमारे यहां प्रावधान के अनुसार स्त्री वस्त्र सहित संयम धारण कर सकती है और उसकी मुक्ति हो सकती है फिर वस्त्र को परिग्रह तथा स्त्री को मोक्ष का अभाव मानना ही क्यों ?" इस बात को श्रवण कर इससे असहमत विद्वानों ने उनसे वाद-विवाद करना शुरू कर दिया। इस प्रकार दिगम्बर ग्रंथों में भी वस्त्र धारण करना उचित माना है।

कई लोग प्रश्न करते हैं, जब तीर्थंकर भगवान् स्वयं वस्त्र धारण नहीं करते तब अन्य साधकों को भी वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए। उनका यह प्रश्न भ्रामक एवं असंगत है क्योंकि तीर्थंकर महाप्रभु आगम व्यवहारी होते हैं। अन्य साधकों की तरह उन पर कल्प की मर्यादाएं लागू नहीं होती हैं। वे कल्पातीत होते हैं। तीर्थंकर देव आध्यात्मिक विज्ञान के अन्वेषक होते हैं। वे पूर्व तीर्थंकरों

द्वारा बताये गये धर्मशास्त्रों का अध्ययन करके अथवा पूर्वाचार्यों से सम्पर्क साधकर, उनसे ज्ञान ग्रहण कर साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप तीर्थ की स्थापना नहीं करते किन्तु पूर्व उपार्जित प्रबल पुण्य प्रकृति तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से जन्म के समय ही मति, श्रुत एवं अवधि ज्ञान लेकर जन्मते हैं और जब आत्म कल्याण का समय उपस्थित होता है तब तीर्थंकर भगवान "णमो सिद्धाणम्" का उच्चारण कर तथा "करेमि भन्ते" की पाटी बोलकर स्वयं संयम अंगीकार करते हैं। दीक्षा लेने के पश्चात् ही वे मनःपर्यवज्ञान से सम्पन्न बन जाते हैं।

मनःपर्यवज्ञान भी आत्मा का सम्पूर्ण विशुद्धि रूप नहीं है, अतः तीर्थंकर भगवान् परिपूर्ण शुद्धि रूप केवल्यज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रायः मौनस्थ, ध्यानस्थ बने रहते हैं। वस्त्र के नाम पर केवल एक देवदूष्य वस्त्र जो इन्द्र उनके कन्धे पर डालते हैं, वही रहता है। यदि किसी निमित्त से या स्वाभाविक रूप से वह वस्त्र गिर जाये तब तीर्थंकर देव निर्वस्त्र विहरण करते हैं। वे पुनः वस्त्र की याचना नहीं करते, लेकिन तीर्थंकर नाम कर्म की प्रकृति से उनका इतना अतिशय होता है कि उनके अतिशय सम्पन्न निर्वस्त्र शरीर पर प्रथम तो दृष्पात ही नहीं होता, सामान्य व्यक्ति उनके आभामण्डल को देखकर इतना अभिभूत हो जाता है कि वह उसको ही देखता रहता है। उनके अंगोपांगों पर उसका ध्यान ही नहीं जाता। एक-एक देशीय दृष्टान्त से भी इस बात को समझा जा सकता है। जैसे मेले की अपार भीड़ में कोई व्यक्ति ऊंचे स्थान पर खड़ा होकर एक बांस पर गुब्बारा लटका कर उच्च स्वर से बोले—"देखिये-देखिये इस गुब्बारे में से कुछ निकलने वाला है।" ऐसा सुनकर भीड़ में उपस्थित समस्त व्यक्तियों की दृष्टि उस गुब्बारे पर लग जाती है।

कहां पैर रखना, कहां नहीं रखना इसका भी उन्हें ध्यान नहीं रहता। उस भीड़ में कोई क्या खा रहा है? कौन जेब कतर रहा है? कौन क्या कर रहा है? इस तरफ लोगों का ध्यान नहीं जाता। उनका ध्यान तो उस गुब्बारे की तरफ ही रहता है। ठीक वैसे ही तीर्थंकर को देखने वाले का ध्यान उनके अतिशय सम्पन्न आभामण्डल पर ही जाता है, उनके अंगोपांगों पर नहीं। अतः तीर्थं-

कर देव स्वयं वस्त्र धारण नहीं करें तो भी उनके शारीरिक अंगो-पांग विकृति के जनक नहीं होते लेकिन साधकों को उन्होंने वस्त्र धारण की आज्ञा दी है कि साधु मर्यादित श्वेत वस्त्र धारण करे तथा उनकी सुबह–शाम प्रतिलेखना करे। इन सब तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि वस्त्र धारण अपरिग्रह रूप और आवश्यक है।

निर्ग्रन्थ की वस्त्र मर्यादा के समान ही पात्रादि के सम्बन्ध में भी शास्त्रकारों ने मर्यादाएं निश्चित की है। साधक को काष्ठ, मिट्टी और तुम्बी के पात्रों को धारण करने तथा प्रयोग में लेने की आज्ञा दी है। आज के कई भाई प्रश्न करते हैं, "महाराज आप प्लास्टिक के बर्तन प्रयोग में क्यों नहीं लेते काष्ठ के पात्रों से भी प्लास्टिक के वर्तन सुलभता से उपलब्ध हो सकते हैं? प्रश्नकर्ता का प्रश्न उचित है, परन्तु महारम्भ से निष्पन्न प्लास्टिक के बर्तनों का उपयोग शास्त्रीय दृष्टि से सर्वथा त्याज्य है। साथ ही साधक यदि प्लास्टिक के बर्तन में भोजनादि ग्रहण करेगा तो उनको साफ भी किससे करेगा? काष्ठ के पात्र तो कपड़े से अच्छी तरह साफ किये जा सकते हैं, लेकिन प्लास्टिक के बर्तन कपड़े से साफ नहीं हो सकते हैं। उनमें फिर चींटियां आदि आकर चिपक सकती है और जीव विराधना भी हो सकती है। अतः साधु चर्या के विपरीत प्लास्टिक के पात्रों को प्रयोग में लेने से तीर्थंकरों की आज्ञा भंगादि दोष उपस्थित होंगे जिससे ग्रन्थि निर्माण होने लगेगा।

प्लास्टिक के बर्तनों की तरह किसी भी प्रकार की धातु के पात्र साधक अपनी निश्रा में नहीं रख सकता क्योंकि प्रभु महावीर ने धातु मात्र अपनी निश्रा में रखने का निषेध किया है। इसलिए भूल से यदि धातु की कोई वस्तु रात्रि में साधु के पास रह जाये तो साधु को उसका प्रायश्चित्त आता है। इसीलिए साधु जिस पैन, बाल पैन आदि से लिखता है, उसको भी संध्या से पहले-पहले गृहस्थ को सौंप देता है। सूर्योदय होने पर पुनः प्रतिहारी आज्ञा लेकर उन्हें काम में ले सकता है। इतना ही नहीं साधु, मात्र धातु की कील वाला चश्मा भी रात्रि में अपनी निश्रा में नहीं रख सकता है, क्योंकि बाह्य आभ्य-न्तर परिग्रह का परित्यागी ही निर्ग्रन्थ कहा गया है।

परिग्रह मूर्च्छा रूप कहा गया है, इसीलिए साधु को किसी

भी प्रकार का चन्दा इकट्ठा करना वर्जित है। वह तो इस प्रकार के प्रपञ्च में किसी प्रकार सहमति अथवा सहयोग भी नहीं दे सकता। इसके पीछे मनोवैज्ञानिक कारण है। भावुक लोग निर्ग्रन्थ अणगार के स्वरूप से अनभिज्ञ, निर्ग्रन्थ अणगार से निवेदन करे "आप निर्ग्रन्थ अणगार हैं, जनता को आप पर पूरा विश्वास है। आप यदि किसी को चन्दा देने के लिए कहें तो अनेक दान-दाता तैयार हो सकते हैं। असहाय व्यक्तियों की सहायता मिल सके, एतदर्थ आप सम्पन्न एवं धर्मप्राण भक्तों को धन दान हेतु प्रेरणा दीजिए।" ऐसा प्रेरणात्मक सहयोग भी निर्ग्रन्थ अणगार नहीं दे सकता क्योंकि धनदान की प्रेरणा देने वाला साधु भी निष्परिग्रही नहीं बन सकता।

इस तथ्य को एक उदाहरण से भली-भांति समझा जा सकता है जैसे कोई बहुत बड़ा धनवान स्वयं तो गद्दे तकियों पर मौज-शौक करे और नौकरों को आदेश दे "अमुक को इतना पैसा दो।" वह सेठ केवल मुनीम एवं नौकरों को आदेश देता है। स्वयं रुपयों के हाथ भी नहीं लगाता तो क्या वह अपरिग्रही कहलायेगा? उत्तर होगा नहीं। जैसे उन रुपयों पर स्वामित्व रखने वाला सेठ अपरिग्रही नहीं कहला सकता वैसे ही जो साधक गृहस्थ को आदेश दे कि तुम चन्दे के लिए पच्चीस हजार दो तो उसका भी सम्पत्ति पर स्वामित्व माना जायेगा क्योंकि सम्पत्ति का स्वामी ही इस प्रकार का आदेश दे सकता है, अपरिग्रही नहीं।

साथ ही धन दान की प्रेरणा देने से निर्ग्रन्थ अणगार के हृदय में सुप्त अहंभाव जागृत हो सकता है, "मैं कितना त्यागी हूँ कितने वैभव सम्पन्न परिवार को छोड़कर मैंने संयम अंगीकार किया है, यदि मेरे कहने से लोग चन्दा देते हैं तो मेरा भी यश फैलता है।" ऐसा विचार उस निर्ग्रन्थ को चन्दे चिट्ठे के चक्कर में डाल सकता है और वह अणगार अपने भीतर अहंभाव, यशभाव तथा आसक्ति की ग्रन्थियों को निर्मित कर सकता है। फलतः वह निर्ग्रन्थ पद से च्युत बन सकता है। सम्भव है पदच्युत निर्ग्रन्थ इतना करके ही विश्राम न ले, परन्तु अहंभाव के पोषण तथा ख्याति की लालसा से राजनीति में भी भाग लेने लगे, इस स्थिति में जिसमें जिस आत्म-शुद्धि के लक्ष्य को लेकर वह निर्ग्रन्थ अणगार अपने पथ पर चला था, उसको गौण

करके, यशकीर्ति अर्जन में ही अपना सारा समय व्यतीत कर अनेक ग्रंथियों से सम्पृक्त बन जाये ऐसा भी हो सकता है। इससे उसके आत्म-शुद्धि का भी लक्ष्य धूमिल बन जायेगा, क्योंकि दशवै. सूत्र अध्ययन ६ में कहा गया है—"नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवण्ण सद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ आरंहतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा"। अर्थात् साधक को इस लोक-परलोक तथा दोनों लोकों में यश-कीर्ति की आकांक्षा से आचार का पालन नहीं करना चाहिए। जो साधक यश-कीर्ति की लालसा से चरित्र का पालन करते हैं, वे अनेक वृत्तियों के दास बनकर समाज एवं धर्म के वातावरण को प्रदूषित करते हैं। ऐसी स्थिति में वह निर्ग्रन्थ सग्रन्थ ग्रहस्थों से भी अधिक खतरनाक बन सकता है। वैसे ही, जैसे दो खाली कुएं हों। एक पर कमजोर ढक्कन लगाकर घास-फूस डाल दिया जाय और दूसरे को खुला ही रखा जाये तो दोनों में से अधिक खतरनाक कुआं कौनसा होगा? उत्तर होगा "ढका हुआ।" क्योंकि उसके ढका हुआ होने के कारण जो भी उस पर चलेगा, वह उसमें गिर सकता है, जबकि खुले मुख वाले कुएं से व्यक्ति सहज ही अपने आपको बचा लेगा। ठीक वैसे ही निग्रन्थ अणगार को ग्रथि-रहित जानकर यदि कोई व्यक्ति ग्रन्थि-विमोचन के लिए आये तो वह ग्रन्थियों से रहित होने के बजाय ग्रन्थियों से युक्त बन जायेगा क्योंकि वह निग्रन्थ, निग्रन्थ पद से च्यूत सग्रन्थ है।

निर्ग्रन्थ सग्रन्थ बनकर लोगों के लिए खतरनाक न बने इसके लिए अनुशासन की परमावश्यकता है। बिना अनुशास्ता की देखरेख निर्ग्रन्थ का उसके मार्ग पर चलना अत्यन्त कठिन है। अतः सम्पूर्ण संघ में एकरूपता बनाये रखने के लिए शास्त्र में आचार्य का प्रावधान है। तीर्थंकरों देवों की उपस्थिति में संघीय अनुशासन की व्यवस्था गणधर करते हैं, लेकिन तीर्थंकरों के मोक्ष-गमन के बाद उनके शासन की व्यवस्था आचार्य ही करते हैं, जिन्हें "गणाधिप" की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। यद्यपि शासन व्यवस्था को सुचारु बनाने के लिए आचार्य द्वारा उपाध्याय स्थविर गणि, गणावच्छेदक पद भी दिए जा सकते हैं लेकिन इन सबकी पाट-परम्परा नहीं चलती। पाट

परम्परा मात्र आचार्यों की चलती है । आचार्य चाहें तो उपाध्याय स्थविर आदि पद योग्य मुनिवरों को दे सकते हैं और न चाहें तो नहीं । कई जैन धर्मानुशास्ता इस बात पर भी जोर देते हैं कि प्रत्येक सघ में आचार्य और उपाध्याय ये दो पदवीधर होना आवश्यक है लेकिन शास्त्रों में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जिससे प्रत्येक सघ में पृथक रूप से उपाध्याय का होना सिद्ध होता हो ।

व्यवहार सूत्र उद्देशक तीन में इस बात का उल्लेख तो है, "यदि आचार्य उपाध्याय काल-धर्म को प्राप्त हो जाये तो नव डहर, तरुण साधुओं को आचार्य उपाध्याय के बिना रहना नहीं कल्पता लेकिन पुनः आचार्य उपाध्याय बनाकर उनकी निश्रा में रहना कल्पता है । इससे सम्बन्धित मूल पाठ इस प्रकार हैं–"णिग्गंथस्स णं नव डहर तरुणस्स आयरिय-उवज्झाए विसंभेज्जा नो से कप्पइ अणायरिय उव-ज्झायत्ता ए होतए, कप्पई से आयरियं उद्दिसा वेत्ता तओ पच्छा उव-ज्झायं से किमाहु भन्ते ! हुसंगहिए समणे णिग्गथे तंजहा आयरिएण उवज्झाएण य ।"

यहां निर्देश किया गया है कि जिस संघ में नव डहर तरुण साधु हों, उस संघ में आचार्य-उपाध्याय का होना जरूरी है । इस निर्देश से आचार्य-उपाध्याय शब्द से पृथक्-पृथक् दो पदवीधरों का भाव ग्रहण नहीं किया गया है क्योंकि सूत्र में एकवचन का प्रयोग है । अतः आचार्य-उपाध्याय शब्द से एक ही व्यक्ति का भाव ग्रहण हुआ है । सूत्र में यह भी लिखा है कि आचार्य उपाध्याय काल-धर्म को प्राप्त हो जाये तो इससे भी आचार्य उपाध्याय के एक ही व्यक्ति होने की पुष्टि होती है क्योंकि यदि आचार्य-उपाध्याय दो व्यक्ति होते तो दोनों के साथ-साथ काल-धर्म को प्राप्त होने की कल्पना नहीं की जा सकती ।

अभिधान-राजेन्द्र कोष में भी आचार्य-उपाध्याय शब्द से एक ही व्यक्ति का अर्थ ग्रहण करते हुए कहा है—"आयरिय उवज्झाय-आचार्योपध्याय-पुं. आचार्य सहित उपाध्याय आचार्योपध्यायः । आचार्य सहिते उपाध्याये (आयरियं उवज्झाए विसंभेज्जा व्या सू ३ उद्दे. आचार्य सहित उपाध्याय आचार्योपध्यायः । आचार्य्य उपाध्याय श्चे-

त्यर्थः । आचार्यश्च स एवोपाध्यायः आचार्योपाध्यायः रूपे उपाध्याये, सहि केषाञ्चित् आचार्यः केषांचिदुपाध्याय इति व्या. ३ उ० १ ॥"

अर्थात् जो आचार्य वही उपाध्याय । वे किन्हीं के लिए आचार्य और किन्हीं के लिए उपाध्याय होते हैं । यहां आचार्य में ही उपाध्याय का समावेश माना गया है क्योंकि एक ही व्यक्ति जो आचार्य-उपाध्याय दोनों पद सम्हालने योग्य हो वह एक ही आचार्य-उपाध्याय दोनों पदवी धारण कर सकता है । इस स्थिति में अलग से उपाध्याय बनाने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती । यदि आचार्य चाहें तो वे किसी को उपाध्याय, गणि, गणावच्छेदक आदि पदवियां दे सकते हैं और नहीं चाहे तो न दें । कोई जरूरी नहीं क्योंकि श्रमण संस्कृति की सुरक्षा हेतु आचार्य और साधु ये दो ही पद महत्वपूर्ण है । अन्य—पदवीधर न भी रहे संघ का कार्य सुचारु रूप से चल सकता है । इस विषय पर अपना मत प्रस्तुत करते हुए उपाध्याय श्री अमरचन्द जी म. सा. ने अमर भारती में कहा है—"विचार कीजिए आप धन-वैभव का परित्याग करके सन्त बने और पुराने कुल और वंश की जीर्ण-शीर्ण शृंखला को तोड़कर विश्व-हितकर साधु बने हैं । अपनी जाति और बिरादरी के घरौंदे को छोड़कर गगन विहारी विहंगम बने हैं । यश प्रतिष्ठा, पूजा और मान सम्मान को त्याग कर भ्रमणशील भिक्षु बने हैं । इतना महान् त्याग करके भी आप इन पदवियों और टाईटलों से क्यों चिपक गये हो । इनसे क्यों निग्रहीत होते जा रहे हो ? युग आ गया है कि आप इन सबको उतार फैंको यह पूज्य है । यह प्रवर्तक है यह गणा-वच्छेदक है, यह सारा चिन्तन निरर्थक है । इन पदों का आज के जीवन में जरा भी मूल्य नहीं रहा है । हम किसी पद के उत्तर दायित्व को निभा सकें तो हमारे लिए साधुत्व का पद ही पर्याप्त है । सन्त सेना के सेनानी को हम आचार्य कहें यह बात शास्त्र-संगत भी है और व्यवहार सिद्ध भी । आज के युग में तो साधु और आचार्य ये दो ही पद पर्याप्त है । यदि इनके पद को भली-भांति सहन कर सकें ।" कवि जी म. सा. के ये शब्द भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि संघ नायक आचार्य का ही महत्त्व है और उसके अतिरिक्त अन्य पदवीधरों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती ।

जैसे संघनायक आचार्य होते हैं वैसे ही साध्वियों को भी

प्रवर्तिनी की निश्रा में रहना चाहिए ऐसा निर्देश भी मिलता है। इसका तात्पर्य है यदि आचार्य किसी साध्वी में प्रवर्तिनी बनने की योग्यता देखें तो उसको प्रवर्तिनी बना सकते हैं यदि योग्यता न देखें तो अलग-अलग संघाटक प्रमुख बनाकर भी उनकी व्यवस्था कर सकते हैं और कम से कम तीन साध्वियों का सिंघाटक बनाकर विचरण का निर्देश दे सकते हैं।

साधुओं की विहार-चर्या में दो साधुओं के विचरण करने का कल्प है। व्यवहार सूत्र के द्वितीय उद्देशक में जहां परिहार तप वहन करने का वर्णन आया है वहां दो साधर्मिक साधुओं के विचरने का उल्लेख है। जिनकल्पी एकल आदि मुनि एकाकी भी विचरण कर सकते हैं लेकिन साध्वियों को तीन से कम संख्या में विचरण नहीं करना चाहिए। कम से कम तीन साध्वियां ही वर्षावास, विहार आदि कर सकती है दो साध्वियां नहीं क्योंकि दो साध्वियां यदि वर्षावास अथवा विहार करेंगी और कदाचित् एक साध्वी काल-धर्म को प्राप्त हो जाये तो एक साध्वी मात्र बचती है। उस एक साध्वी को वर्षावास अथवा विहार करना नहीं कल्पता ऐसा उल्लेख करते हुए वृहत्कल्प सूत्र में कहा है कि—"नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए गामाणुगामं दूइज्जित्तएवासावासं वा वत्थए" अर्थात् अकेली साध्वी को एक गांव से दूसरे गांव विहार करना तथा वर्षावास करना नहीं कल्पता है। अतः साध्वियां तीन से कम वर्षावास करना अथवा विहार करना नहीं कल्पता। ये सब व्यवस्थाएं, बिना आचार्य के नेतृत्व के सम्भव नहीं है। जिस प्रकार जनतन्त्रीय पद्धति में जहां एक सभा में कितने ही बड़े-बड़े नेता उपस्थित क्यों न हो? अनेक प्रस्ताव क्यों न रखे जाये? और उसको पारित करवाने के लिए बहुमत भी हो तो भी सभापति न हो तो प्रस्ताव पारित नहीं हो सकता। यदि पारित हो भी जाये तो अवैधानिक होगा। इस स्थिति में यदि किसी प्रज्ञासम्पन्न तरुण को भी सभापति पद पर बिठा दिया जाये तो प्रस्ताव पारित हो सकता है। जिस प्रकार सभा में सभापति का अत्यन्त महत्व है, ठीक उसी प्रकार चतुर्विध संघ में शासनपति आचार्य का अत्यधिक महत्त्व है।

इसी बात को ध्यान में रखते हुए प्रभु महावीर ने अपने शासन की बागडोर सुधर्मा स्वामी के हाथों सौंप दी थी यह ऐति-

हासिक प्रमाणों से भली-भांति जाना जा सकता है। गणहर सत्तरी में कहा गया है—

"तित्थाहिवो सुहम्मो, लहुकम्मो गरिम गयण संकासो।
वीरेण मज्झिमाए, संडविओ अग्गि वेसाणो॥"

अर्थात् भगवान् महावीर ने मध्यम् पावा में लघुकर्मा, केसरीसिंह तुल्य अग्नि वेश्यायन गोक्षीय, सुधर्मा स्वामी को तीर्थाधिप पद पर प्रतिष्ठित किया इससे स्पष्ट है कि आचार्य पाट परम्परा ही प्रभु महावीर से चली है। प्रभु महावीर ने आचार्य पद ही दिया, उपाध्याय पद नहीं। यदि महावीर के ज्ञान में उपाध्याय पद देना अनिवार्य होता तो प्रभु महावीर भी जरूर उस समय किसी को उपाध्याय पद देते लेकिन प्रभु महावीर ने चतुर्विध संघ का समस्त अधिकार आचार्य को ही दिया। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक संघ में उपाध्याय का होना अनिवार्य नहीं है।

आर्य सुधर्मा स्वामी के समय साधु स्थविरकल्पी और जिनकल्पी दोनों होते थे। जो भी स्थविर कल्पी साधक जिनकल्पी स्वीकार करते थे, वे पहले अनुशास्ता से अनुज्ञा लेते थे। विना अनुज्ञा लिए जिनकल्प स्वीकार नहीं कर सकते थे। जिनकल्प की अवधि समाप्त होने पर पुनः कोई साधक स्थविर कल्प में प्रविष्ट हो जाते हैं कई जिनकल्प में ही रहते हैं। जिनकल्पियों को उस भव में मोक्ष नहीं होता क्योंकि जिनकल्पी को उस जन्म में केवलज्ञान व मोक्ष का निषेध किया गया है इसका कारण यह है कि जिनकल्पिक उस भव में क्षपक नहीं होते वे उस भव में उपशम श्रेणि ही चढ़ सकते हैं ऐसा वृहत्कल्प भाष्य द्वितीय भाग भाष्य गाथा १४२० के प्रसंग से कहा गया है—
"तत्र जिनकल्पिकस्य तद्भव केवलोत्पत्ति–प्रतिषेधादुपशमश्रेण्या वेदे उपशमिते सति अवेदत्वम्। तदुक्तम्

उवसमसेदीए खलु, वेदे उवसामियम्मि उ अवेदो।
न उ खविए तज्जम्मे, केवल पडिसेह भावाओ॥
शेष कालं तु सवेद इति॥ (पंचवस्तुकगाथा) १४६८

अर्थात् जिनकल्पिकों को उस भव में केवलज्ञान का प्रतिबोध होने से उपशम श्रेणि में वेद का उपशमन होने से वे अवेदी होते हैं

जैसा कि कहा गया है—उपशमश्रेणि में वेद की उपशमना होने से वे अवेदी होते हैं उस जन्म में केवलज्ञान का निषेध होने से वे क्षपक नहीं होते। शेष काल में सवेदी होते हैं।"

स्पष्ट है कि जिनकल्पिक उस भव में मोक्षगामी नहीं होते निर्ग्रन्थ जिनकल्प स्वीकार करते हैं, उनकी शिक्षा, दीक्षा प्रायश्चित्त विधि विधान के अनुसार सारणा, वारणा, धारणा आचार्य श्री के निर्देशानुसार होती है। जो साधक वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले और कठिन परीषह को सहन करने की क्षमता वाले होते हैं, वे ही जिन-कल्प धारण कर सकते हैं।

जिनकल्पियों की मर्यादाएं स्थविरकल्पी साधुओं से कुछ भिन्न होती हैं। जघन्य उपधि रखने वाले के वस्त्रादि की दृष्टि से केवल मुख-वस्त्रिका एवं रजोहरण रहता है। कोई-कोई साधक गुप्तांग आच्छादन रूप वस्त्र भी रखते हैं। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अग्नि एवं शेर जैसे भयंकर उपसर्ग सामने आने पर भी उनके भय से पीछे नहीं हटते। यहां प्रश्न हो सकता है "शेर तथा अग्नि के सम्मुख जिन-कल्पी मुनि जाते हैं तो क्या यह आत्म-हत्या नहीं है ? यदि आत्म-हत्या है तो मुनि की आत्म-हत्या शास्त्र संगत कैसे हो सकती है ? शास्त्रकार ऐसे जघन्य कार्य के लिए कैसे आदेश दे सकते हैं ?" इसका उत्तर यह है कि जिनकल्पी विशिष्ट ज्ञानी होते हैं वे अपने ज्ञान में जैसा देखते हैं तदनुसार आचरण करते हैं। इसलिए जब अपने ज्ञान में ऐसे देखते हैं कि उनका प्राणान्त सिंह या अग्नि द्वारा ही होगा तभी वे उस मार्ग से गमन करते हैं अन्यथा नहीं। इसलिए इसे आत्म-हत्या नहीं कह सकते यह तो सहज रूप से मृत्यु का वरण करना है। यह आवेश पूर्वक बिना सोचे समझे किया जाने वाला कार्य नहीं है। यह तो आयु के दलिक समाप्त होने पर आने वाली मृत्यु का वरण करने रूप मंगलमय मरण है।

जिनकल्प कैसे स्वीकार किया जाता है इसका वर्णन करते हुए विशेषावश्यक भाष्य भाग प्रथम पृष्ठ ५ पर जो वर्णन है उसका अनुवाद इस प्रकार है "जिनकल्पादि स्वीकार करने वाले को पहले रात्रि यह चिन्तन करना चाहिए "विशुद्ध चारित्र के अनुष्ठान से मैंने

आत्म-हित कर लिया है और शिष्यादि के उपकार से परहित किया है। इस समय मेरे शिष्य गच्छ का भार वहन करने में समर्थ है इसलिए विशेष रूप से मुझे आत्महित करना चाहिए।" ऐसा चिन्तन करके अपनी आयु का ज्ञान हो जाने पर शेष सभी वातों की स्वयमेव पर्यालोचना करता है और स्वयं को ज्ञान नहीं हो तो अन्य अतिशय ज्ञानी आचार्यों से पूछता है। जब उसे इस वात का ज्ञान हो जाये कि मेरी आयु स्वल्प है तो भक्त प्रत्याख्यानादि किसी भी एक मरण को स्वीकार करता है। यदि आयु लम्बी है और जंघावल क्षीण हो जाये तब वृद्धवास स्वीकार करता है और शक्ति रहने पर जिनकल्प स्वीकार करता है। जिनकल्प स्वीकार करने वाले को तप, सत्व सूत्र एकत्व और बल इन पांच तुलनाओं से अपनी आत्मा को तोलना चाहिए। तुलना भावना और परिकर्म ये एकार्थक हैं। आचार्य, उपाध्याय प्रवर्तक, स्थविर गणावच्छेदक ये प्रायः पांच जन प्रशस्त पंच भावनाओं से जिनकल्प को स्वीकार करने वाले पहले ही अपनी आत्मा को भावित करते हैं।

तप से आत्मा को भावित करते हुए यदि देवादि उपसर्ग से अनैषणीयादि कारणों से मास तक भी आहार नहीं मिलता तव भी भूख को जीतते हैं। सत्वभावना से भय को जीतते हैं। भय को जीतने के लिए रात्रि में शेष साधुओं के सोने पर उपाश्रय में ही कायोत्सर्ग करते हुए पहली सत्व भावना होती है। उपाश्रय से वाहर कायोत्सर्ग करने में दूसरी, तीसरी चौक में, चौथी शून्यग्रह में, पांचवी श्मशान में कायोत्सर्ग करने पर होती हैं।

सूत्र भावना से अपने नाम की तरह सूत्र को वैसा परिचित करते हैं जैसे रात्रि और दिन में उच्छ्वास प्रमाण स्तोक, लव मुहूर्तादिकाल को सूत्र परावर्तन के अनुसार ही सम्यक् रूप से जान लेते हैं।

एकत्व भावना से आत्मा को भावित करते हुए साधु आदि के सिंघाटक के साथ प्रवृत्त आलाप, सूत्रार्थ, सुख, दुःखादि प्रश्न तथा परस्पर कथाओं को छोड़कर सभी का परित्याग कर देते हैं। उसके पश्चात् बाह्य ममत्व का मूल से परित्याग कर देने के बाद देह उपधि आदि से भिन्न आत्मा को देखते हुए उनसे भी विरत बन जाते हैं।

बल भावना में बल दो प्रकार है, शारीरिक या मानस धृत्ति बल। शारीरिक बल भी जिनकल्प को स्वीकार करने वाले का शेष साधुओं की अपेक्षा अधिक होता है। तप आदि से शारीरिक बल क्षीण होता हुआ यद्यपि वैसा नहीं रह पाता तथापि धृतिबल से आत्मा को वैसा युक्त होना चाहिए जिससे महान् उपसर्गों में भी विचलित न बने। इन पांच भावनाओं से भावित आत्मा जिनकल्प के प्रतिरूप (समान) गच्छ में भी रहते हुए आहारादि परिकर्म पहले ही करते हैं। आहार में तीसरी पौरुषी आने पर वल्लचणकादि रूप प्रान्त और रूक्ष आहार सात पिण्डैषणाओं में प्रथम दो को छोड़कर शेष पांच में से किन्हीं दो एषणाओं के अभिग्रह से आहार ग्रहण करता है। एक एषणा से भोजन और दूसरी एषणा से प्रासुक जल। सात पिण्डैषणा का स्वरूप इस प्रकार है—

१. असंसृष्ट—दाता का हाथ और बर्तन उस प्रकार की वस्तु से अलिप्त हो तो आहार ग्रहण करना।
२. संसृष्ट—दाता का हाथ एवं बर्तन उस प्रकार की प्रासुक वस्तु से लिप्त हो तो चारों प्रकार का आहार ग्रहण करना।
३. उद्धृता—स्थाली आदि में गृहस्थ ने अपने लिए भोजन रखा है, वैसा भोजन अभिग्रहानुसार लेना।
४. अल्पलेपा—तुषरहित धान्य, भुना हुआ धान्यादि लेना जिससे गृहस्थ को पुनः करना न पड़े।
५. उद्गृहीता—गृहस्थ ने अपने खाने के लिए भोजन थाली आदि में परोसा, उसको ग्रहण करना।
६. प्रगृहीता गृहस्थ ने अपने लिए या दूसरे के लिए भोजन खाने के लिए बर्तन में से निकाला, लेकिन दूसरे ने ग्रहण नहीं किया, उसे प्रासुक जानकर लेना।
७. उज्झित धर्मा—ऐसा फेंकने योग्य भोजन जिसे मनुष्य पशु-पक्षी नहीं खाते वैसा प्रासुक भोलन याचना करके ग्रहण करना।

इसी प्रकार सात पान—एषणाएं भी होती हैं। इन सात—सात पिण्डैषणाओं पान—एषणाओं में से जिनकल्पी मुनि प्रथम दो को छोड़कर अन्तिम पांच एषणाओं में से उनके अभिग्रह अनुसार एषणाएं

धारण करते हैं। एक एषणा से आहार तथा दूसरी से प्रासुक पानी ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार पहले आगमोक्त विधि से गच्छ में रहते हुए अपने आपकी तुलना करके उसके पश्चात् जिनकल्प को स्वीकार करने की इच्छा से संघ को एकत्रित करते हैं। संघ के अभाव में गण को एकत्रित करते हैं। उसके पश्चात् तीर्थंकरों के समीप उनके अभाव में गणधरों के पास, उनके अभाव में चौदह पूर्वधारी के पास, उनके असम्भव होने पर दस पूर्वधारी के पास, उनके नहीं मिलने पर वट् पीपल, अशोकादि वृक्षों के तले जिनकल्प स्वीकार करते हैं।

अपने पद पर स्थापित आचार्य से तथा सम्पूर्ण गच्छ से क्षमायाचना करते हैं और अपने पद पर स्थापित आचार्यादि को अनुशासन की शिक्षा देते हैं—"तुम इस गण का अनासक्ति पूर्वक पालन करना और यही हमारी परम्परा है, तुम भी अन्त में इसको (जिनकल्प) स्वीकार करना।" इस प्रकार कई प्रकार की शिक्षाएं देते हुए गच्छ से निकल जाते हैं और जिनकल्पी मुनि के शिष्य उनके गुरु के आंखों से ओझल हो जाने पर अप्रसन्न होते हुए लौट आते हैं।

जिनकल्प स्वीकार किया हुआ जिस गांव में चातुर्मास अथवा मास कल्पादि करेगा उसके ६ भाग करता है। तत्पश्चात् जिस भाग में एक दिन गोचरी के लिए घूमा वहां पुनः सातवें दिन घूमता है। भिक्षाचर्या और ग्रामान्तर गमन तीसरी पौरुषी में ही करता है। चौथी पौरुषी जहां पर प्राप्त करते हैं वहीं पर नियम से ठहर जाते हैं।" इसका भावार्थ यहां पर यह ज्ञातव्य है कि जो मुनि जिनकल्प की प्रतिमा को धारण कर चुके हैं, वे तीसरी पौरुषी में विहार करने को उद्यत बनते हैं और चौथी पौरुषी के अन्त में जहां भी पहुंच जाये वहां चाहे श्मशान हो या सूनसान जंगल वहीं ठहर जाते हैं। आचार्य श्री शीलांक ने आचाराङ्ग पत्रांक २१० पर इस बात का उल्लेख किया है—"जिसने अभी तक जिनकल्प स्वीकार नहीं किया। लेकिन जो सत्वादि भावना भा रहा है, उसके प्रभु ने श्मशान में ठहरने की आज्ञा नहीं दी लेकिन जिसने जिनकल्प की प्रतिभा को धारण कर लिया है, वह यदि विहार करे और सूर्यास्त हो जाये तो श्मशान आदि में ठहर

सकते हैं ।" इस दृष्टि से जिनकल्प मुनि सूर्यास्त से पहले–२ विहार कर सकते हैं यही बात संगत लगती है ।

जिनकल्प सम्बन्धी उल्लेख करते हुए इसी विशेषावश्यक भाष्य में आगे बतलाया है, आहार पानी पूर्वोक्त दो एषणा के अभिग्रह से अलेपकृत ही ग्रहण करते हैं । एषणा के विषय को छोड़कर किसी के साथ बोलते भी नहीं । एक वसति में उत्कृष्ट सात जिनकल्पी रहते हैं, वे भी परस्पर बातचीत नहीं करते । उपसर्ग परीषह सभी को सहन करते हैं रोग की चिकित्सा नहीं करवाते । उसकी वेदना को समभाव से सहन करते हैं । आपात संलोक आदि दोष से रहित स्थण्डिल में ही उच्चारादि करते हैं. अस्थण्डिल में नहीं । ममत्व रहित वसति में ही रहते हैं, जब बैठते हैं तो उत्कुटुक आसन से ही, निषद्या पर नहीं औपग्रहिक उपधि का अभाव होने से । व्याघ्रसिंहादि सम्मुख आने पर भी, उनके भय से मार्ग नहीं छोड़ते ।

जिनकल्पिकों का जघन्य नवें पूर्व की तृतीय आचार वस्तु और उत्कृष्ट दस पूर्व तक ज्ञान होता है । वज्रऋषभनाराच संहनन होता है । स्वरूप से पन्द्रह कर्म भूमि में तथा संहृत होने पर अकर्म भूमि में भी होते हैं ।

उत्सर्पिणी काल में व्रत में स्थित की अपेक्षा तीसरे चौथे आरे में और जन्म मात्र से दूसरे आरे में भी होते हैं । अवसर्पिणी काल में जन्म की अपेक्षा से तीसरे, चौथे आरे में, व्रत में स्थित की अपेक्षा पांचवे आरे में भी होते हैं । संहरण की अपेक्षा सभी काल में होते हैं ।

प्रतिपद्यमानक सामायिक–छेदोपस्थापनीय चारित्र में पूर्व प्रतिपन्न यथाख्यात चारित्र में, उपशमश्रेणी में मिलते हैं । प्रतिपाद्यमान की उत्कृष्ट शतपृथक्त्व और पूर्व प्रतिपन्न की सहस्त्रपृथक् जिलकल्पी की संख्या प्राप्त होती है । जिनकल्पिक प्रायः अपवाद का सेवन नहीं करते । जंघावल क्षीण होने पर विहार नहीं करते हुए भी आराधक होते हैं आवश्यिकी नैषेधिकी, मिथ्यादुष्कृत, घर के विषय में पृच्छा, उपसंत्लक्षण पांच समाचारी होती है इच्छादि नहीं ।

दूसरों के मन में आवश्यिकी, नैषधिकी, गृहस्थोपसंपत्लक्षण तीन समाचारी होती हैं क्योंकि सामान्यतः उद्यानादि में रहने से

पृच्छादि भी असम्भव है । ये नित्य लोच करते हैं इस प्रकार की समाचारी जिनकल्पियों की होती है ।

इतना सब कुछ होने पर भी जिनकल्प का अलग कोई अनुशास्ता नहीं होता अपितु स्थविरकल्प में ही अनुशास्ता होता है वही जिनकल्प धारण करने की आज्ञा प्रदान करता है । इस प्रकार जिनकल्प का उद्‌गम स्थान स्थविरकल्प ही है और उसी स्थविरकल्प के अनुशास्ता के रूप में प्रभु महावीर ने सुधर्मा स्वामी को गणधिप पद पर प्रतिष्ठित किया था । सुधर्मा स्वामी ने बड़ी निष्ठा पूर्वक उस पद का वहन किया, प्रभु महावीर की वाणी को अपने शिष्य समुदाय तक पहुंचाया और उन्हें जब केवलज्ञान हो गया तब अपने शासन का भार जम्बू स्वामी को सौंप दिया क्योंकि कोई अनुशास्ता आचार्य केवलज्ञान होने के बाद आचार्य पद पर नहीं रह सकता । इसका कारण यह है कि केवली होने के बाद वे ऐसी प्ररूपणा नहीं कर सकते कि प्रभु महावीर ने ऐसा कहा था परन्तु चूंकि ऐसी प्ररूपणा नहीं करने पर प्रभु महावीर के नाम की परम्परा अक्षुण्ण नहीं चल सकती अतः प्रत्येक आचार्य द्वारा शासन में एकरूपता बनाये रखने के लिए केवलज्ञान होने पर आचार्य पद का परित्याग कर दिया जाता है । यही कारण है सुधर्मा स्वामी ने केवलज्ञान होने के बाद अपना गरिमामय पद जम्बू स्वामी को दे दिया था । जम्बू स्वामी ने भी अत्यन्त निष्ठा और आत्मिक श्रद्धा पूर्वक उस पद का निर्वहन किया और केवलज्ञान होने के पश्चात् अपना पद प्रभव स्वामी को दे दिया ।

जम्बू स्वामी के साथ एक विशेष स्थिति रही वे इस भरत क्षेत्र के अवसर्पिणी काल के अन्तिम केवली थे उनके निर्माण के पश्चात् दस बोलों का विच्छेद हो गया (१) मनःपर्यवज्ञान (२) परमावधिज्ञान (३) पुलाकलब्धि (४) आहारक शरीर (५) क्षपकश्रेणि (६) उपशमश्रेणि (७) जिनकल्पी (८) तीन प्रकार के चारित्र-परिहार विशुद्ध, सूक्ष्म संपराय, यथाख्यात (६) केवलज्ञान (१०) मुक्ति ।

इस प्रकार वीर निर्वाण ६४ में जम्बू स्वामी के निर्वाण के साथ-साथ ही जिनकल्प की मर्यादा समाप्त हो गयी जो मुनि आज भी स्वयं को जिनकल्पी परम्परा के अनुयायी मानकर वस्त्र धारण नहीं करते । उनके इस व्यवहार की आगमानुसार संगति नहीं बैठ

पाती क्योंकि जम्बू स्वामी के पश्चात् मात्र स्थविरकल्प ही शेष रहा। जम्बू स्वामी ने प्रभव स्वामी को अपना पट्टधर घोषित किया जब प्रभव स्वामी आचार्य पद का वहन करते हुए चल रहे थे तब एक रात्रि में उन्होंने ध्यानस्थ होकर चिन्तन किया कि इस गरिमामय पद का अधिकारी कौन हो सकता है? अपने समस्त साधुओं पर श्रुतज्ञान के माध्यम से दृष्टिपात करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि जितने भी निर्ग्रन्थ अणगार हैं उनमें से यद्यपि कई पूर्वधर और विशिष्ट लब्धि सम्पन्न भी हैं तथापि वे इस पद का दायित्व वहन करने योग्य नहीं हैं। शास्त्रीय विद्यानुसार एक दिन का दीक्षित मुनि भी इस पद का अधिकारी बन सकता है, भले ही वह कम ज्ञान सम्पन्न क्यों न हो? अतः तत्पश्चात उन्होंने श्रुतज्ञान के माध्यम से श्रावक समाज पर दृष्टिपात किया तो कोई भी श्रावक उन्हें तृतीय पद का अधिकारी होने योग्य भी दिखायी नहीं दिया। इसके उपरान्त श्रुतज्ञान के माध्यम से देखा कि राजग्रह नगर का वत्सगोत्रीय ब्राह्मणशय्यंभव भट्ट जो यज्ञानुष्ठान में निरत था। वही इस पद का अधिकारी होने योग्य था। तब दूसरे दिन प्रभव स्वामी विहार करके राजग्रह नगर पधारे।

राजग्रह आने के बाद प्रभव स्वामी ने अपने दो शिष्यों से कहा—"निर्ग्रन्थों! जहां यज्ञानुष्ठान हो रहा है, वहां तुम दोनों भिक्षार्थ जाओ और भिक्षा न मिलने पर "अहो कष्टं अहो कष्टं तत्व न जायते" यह उच्चारण कर लौट आना। उन भाई-बहिनों से चर्चा-विचर्चा वाद-विवाद कुछ भी मत करना। मुनि आचार्य श्री का निर्देश स्वीकार कर यज्ञ स्थल पर पहुंचे। वहां जब यज्ञ में उपस्थित ब्राह्मणों ने भिक्षा देने से इन्कार कर दिया तब उन्होंने गुरु की आज्ञानुसार अहो कष्टम्—२ तत्वं न ज्ञायते का उच्चारण किया।

मुनियों के ये शब्द यज्ञानुष्ठान में निरत शय्यंधवभट्ट ने श्रवण किये और उसके मन में अहापोह मच गया—"जैन मुनि कभी असत्य भाषण नहीं करते उन्होंने कहा है—"तत्त्व नहीं जाना जा रहा है।" तो भला तत्त्व क्या है? प्रश्नों के इस आवेग को वे रोक न सके और यज्ञ करवाने वाले पुरोहित से उन्होंने पूछ ही लिया "तत्त्व क्या है?" पुरोहित का उत्तर था, "वेद ही तत्त्व रूप है।" तब शय्यंभव भट्ट को रोष आया और तलवार निकाल कर उन्होंने कहा—"या तो

मुझे सही-सही बता दो अन्यथा धड़ से सिर अलग कर दूंगा।"

पुरोहित काम्पने लगा और मरणभय से सत्य बोला—"हम तो इससे अतिरिक्त तत्त्व ज्ञान की बात नहीं जानते। तुम्हें जानना हो तो उन्हीं जैन मुनियों से जान लो। "पुरोहित द्वारा ऐसा कहे जाने पर शय्यंभव भट्ट प्रभव स्वामी के पास पहुंचे। प्रभव स्वामी ने तत्त्व का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादित किया, जिसे जानकर शय्यंभव भट्ट के हृदय में विरक्ति पैदा हो गयी और वे गर्भवती पत्नी को छोड़कर दीक्षित बने तदुपरान्त प्रभव स्वामी ने अपना गरिमामय पद शय्यंभव स्वामी को दे दिया।

कालान्तर में शय्यंभव स्वामी का पुत्र बालक मणक उनके पास आया और दीक्षित हो गया। मुनि मणक की आयु सिर्फ ६ माह शेष जानकर उन्हें वास्तविक ज्ञान देने के लिए शय्यंभव स्वामी ने पूर्वों से कुछ अंश निकाल कर दशवैकालिक सूत्र की रचना की।

ये कतिपय ऐतिहासिक उदाहरण इस सत्य को पुष्टि करते हैं कि आचार्य जिसको योग्य समझे उसको अपना उत्तराधिकारी घोषित कर सकता है चाहे वह एक दिन का दीक्षित बाल मुनि ही क्यों न हो? प्रभव स्वामी ने आगमकारों के वाक्यों को दृष्टि में रखते हुए ही शय्यंभव स्वामी को अपने पट्ट पर आसीन किया था और वही निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की परम्परा आज अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है।

इस निर्ग्रन्थ परम्परा का साधुमार्ग से गहरा सम्बन्ध है। इसीलिए निर्ग्रन्थ बनाम साधुमार्ग है क्योंकि जितने भी तीर्थंकर होते हैं वे पहले निर्ग्रन्थ बनते हैं तत्पश्चात् केवलज्ञान होने पर चतुर्विध संघ की स्थापना रूप आत्म-कल्याण के लिए मार्ग देते हैं वह है साधुमार्ग। इस साधुमार्ग के अन्तर्गत निर्ग्रन्थ की आराधना चैतन्य आराधना होती है न कि जड़ आराधना क्योंकि निर्ग्रन्थ का उद्देश्य चैतन्य है उससे भिन्न आकार प्रकार रूप जड़तत्त्व नहीं। इसके अतिरिक्त जो साधक निर्ग्रन्थ की अवस्था का संकल्प लेकर चलता है। वह चैतन्य की मुख्यता को लक्ष्य में लेकर ही चलता है। इस प्रकार शुद्ध चैतन्य की आराधना ही निर्ग्रन्थता में सहायक सिद्ध होती हैं। अतः

निर्ग्रन्थ बनाम साधुमार्ग की आराधना चैतन्य आराधना है उसी चैतन्य आराधना का किञ्चित् विश्लेषण प्रस्तुत है ।

"साधुमार्ग में चैतन्य आराधना पद्धति"

जैन धर्म में चैतन्य का महत्व सर्वोपरि है । चैतन्य की शक्तियों को जागृत करने एवं उसकी आराधना करने हेतु विविध मार्ग जैन धर्म शास्त्रों में वर्णित हैं । चैतन्य के अस्तित्व की सिद्धि "मैं हूं" इस अनुभूति से होती है । प्रत्येक प्राणी को ऐसी ही अनुभूति होती है "मैं हूं" किसी को "मैं नहीं हूं" ऐसी अनुभूति नहीं होती । बस यही अनुभूति चैतन्य के अस्तित्व को प्रमाणित करती है । चैतन्य देव के शरीर से निकल जाने के बाद मृत शरीर को "मैं हूं" ऐसी अनुभूति नहीं होती । अतः शरीर से सर्वथा भिन्न चैतन्य एक ऐसा ज्ञानवान् उपयोगवान् तत्त्व है जिसमें चिन्तन, मननपूर्वक निर्णय करने की एवं आचरण की निगूढ़ शक्ति समाहित है ।

इस चैतन्य तत्त्व का विशिष्ट स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि यह अमूर्त्त, अरूपी, सत्, चित आनन्द घनरूप है । अमूर्त्त होने पर भी इसके अस्तित्त्व का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि जैसे—घट पटादि के रूप का प्रत्यक्ष दर्शन करके हम घट को प्रत्यक्ष मानते हैं वैसे ही "मैं हूं" इस आन्तरिक प्रत्यक्ष अनुभूति रूप ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्षीकरण से ही आत्मा के प्रत्यक्ष रूप के दर्शन किये जा सकते हैं । आत्मा का सच्चिदानन्दघन स्वरूप होने से उसका यह ज्ञान रूप मौलिक गुण कभी भी नष्ट नहीं होता । इस सच्चिदानन्दघन पद की व्याख्या जैन आगमों में प्रचुर रूप से उपलब्ध होती है । सत् की व्याख्या करते हुए कहा गया है—"कालत्रयं तिष्ठति इति सत्" अर्थात् त्रिकाल अवस्थायी शाश्वत आत्मा सत् रूप है । अन्य प्रकार से सत् की व्याख्या करते हुए कहा है "उत्पाद्व्यय ध्रौव्य-युक्तं सत्" अर्थात् उत्पाद् व्यय धौव्य रूप गुण जिसमें हो वह सत् है । चित् गुण ज्ञान का अभिव्यञ्जक है उसमें उपयोग गुण रहा हुआ है । इस प्रकार चित् गुण होने से आत्मा चैतन्य रूप है । आन्तरिक असीम आनन्द का सन्देह होने से आनन्द घनरूप है । अतः आत्मा का सच्चिदानन्द घनरूप शुद्ध स्वरूप है । लेकिन वर्तमान जो सशरीरी आत्मा

हम देखते हैं वह आत्मा का परिपूर्ण विकसित स्वरूप नहीं है। यह शरीर और आत्मा का विशिष्ट संयोग है। इस संयोग को पृथक कर आत्म शक्तियों को जागृत कर, आत्म स्वरूप को उपलब्ध करना ही चैतन्य की आराधना पद्धति है।

जैन धर्म में इसी चैतन्य आराधना को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। समग्र जैन समाज में प्रचलित एवं सर्वमान्य "नवकारमंत्र" इसकी महिमा को प्रतिपादित करता है। इसमें पांच पद हैं। वे पांचों पद चैतन्य गुण निष्पन्न चैतन्य आराधना को ही प्रकट करते हैं? अतः इसके सच्चे स्वरूप पर शास्त्रीय सन्दर्भ में विचार करना आवश्यक है। नवकार मन्त्र के पांच पद इस प्रकार हैं—

णमो अरिहंताणं।
णमो सिद्धाणं।
णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं।
णमो लोए सव्व साहूणं।

इन पांचों पदों में विशिष्ट गुण सम्पन्न पांच चैतन्य आत्माओं को नमस्कार किया गया है जिन पर पांचवे पद से विचार करना अधिक संगत होगा।

पांचवां पद है—"णमो लोए सव्व साहूणं" अर्थात् लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार हो। साधु कौन है? इस सन्दर्भ में साधु पद की व्याख्या करना आवश्यक है। "साध्नोति स्वपर कार्यमिति साधुः" अर्थात् स्वपर के कार्य को सिद्ध कर ले वही साधु है। जैनागमों में साधु की एक व्यापक आचार संहिता स्वीकार की गयी है। इसके अनुसार संसार के मध्य रहता हुआ भी सांसारिक लिप्साओं से सर्वथा दूर रहता है। उसका लक्ष्य मात्र इन्द्रिय और शरीर पोषण नहीं है किन्तु शरीर और इन्द्रियों से पृथक् शरीर में रहने वाले उस शाश्वत अखण्ड, असंख्य प्रदेशी महत्त्वपूर्ण चैतन्य तत्त्व की चरम शक्ति को प्रकट करना है। यह वही तत्त्व है जिस पर किसी भी शस्त्र का प्रभाव नहीं हो सकता, जिसे अग्नि जला नहीं सकती, हवा जिसे सुखा

नहीं सकती तथा पानी जिसे गीला नहीं कर सकता गीता में उस आत्म तत्त्व की महिमा गाते हुए कहा है—

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो व शोषयति मारुतः ।।"

आत्म तत्त्व की ऐसी विशिष्ट शक्ति को उत्पन्न कर पाना सांसारिक विषय वासनाओं में लिप्त पुरुष के लिए सम्भव नहीं है । जब किसी व्यक्ति के मन में इस आत्म तत्त्व की परिपूर्ण शक्ति को प्रकट करने का भाव जागृत होता है तब वह दृढ़संकल्पी बनकर शरीर और इन्द्रियों की वृत्तियों को संशोधित करता हुआ संसार के समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य समझता हुआ स्व और पर के कल्याणार्थ एक नवीन मार्ग का अन्वेषण करता है । एतदर्थ वह अपने शरीर से सम्बन्ध रखने वाले परिजनों का परिजन रूप से परित्याग कर समस्त संसार को अपना परिवार बनाकर, चरम विकास को प्राप्त सिद्ध भगवन्तों को अपना आदर्श बनाकर तथा अनासक्त बनकर चैतन्य देव की उपासना करने के लिए एकाकी गृहत्यागकर चल पड़ता है । ऐसे व्यक्ति की ही पहचान लोक में 'साधु' शब्द से होती है । इसी साधु के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करते हुए जैनागमों में उसे पांच महाव्रतधारी कहा गया है । वह विषयों का सेवन करके इन्द्रियों का पोषण नहीं करता वरन् आत्मिक पोषण की पुष्ट खुराक रूप महाव्रतों के स्वरूप को जीवन में सम्यक् प्रकार से स्थान देने के लिए सतत् प्रयत्नरत रहता है ।

इन पांच महाव्रतों को आत्मा के विकास की नींव माना गया है । अतः इनके स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि इन्हीं के स्वरूप पर विचार करना नमस्कार मंत्र का आधार है । इसलिए इसका प्रारम्भ प्रथम महाव्रत से करते हैं ।

प्रथम महाव्रत है अहिंसा । समस्त दुःखों से मुक्ति पाने एवं दूसरों को शांति प्रदान करने की दृष्टि से अहिंसा की पालना अत्यन्त महत्वपूर्ण है । अहिंसा महाव्रत को स्वीकार करने वाला मन, वचन, काया के योग से किसी भी प्राणी की हिंसा स्वयं नहीं करता, दूसरों से नहीं करवाता और करते हुए को अच्छा नहीं समझता है अर्थात् दूसरे प्राणियों की हिंसा को अपनी हिंसा समझता है ।

जैन शास्त्रकारों की दृष्टि में हिंसा बहुत बड़ा पाप भी माना गया है। अतः साधक जो परिपूर्ण चैतन्य आराधना की परिपूर्णता हेतु चैतन्य का शुद्ध स्वरूप प्राप्त करने का आकांक्षी है और चैतन्य आराधना में तन्मय होना चाहता है तब वह चैतन्य स्वरूप की वास्तविक अनुभूति करने हेतु अपने समान सभी चैतन्य को समझकर अपने से भिन्न किसी भी चैतन्य को सत्रास आदि किसी भी प्रकार का कष्ट उत्पन्न न हो एतदर्थ आत्मनः प्रतिकूलानि परेषांन समाचरेत् की श्रेष्ठ युक्ति का पहला आश्रय लेकर पहली सिढ़ी अहिंसा की अभिव्यक्ति से चालू करता है। वह समझता है कि छोटे से छोटे चैतन्य का हनन करना उसका हनन नहीं है यह मेरा हनन है अतः मेरे हनन की स्थिति को मस्तिष्क में रखकर मैं मेरा विकास नहीं कर सकता मेरे चैतन्य स्वरूप के विकास के लिए छोटे से छोटे, बड़ी से बड़ी आत्मा का हनन करना तो दूर रहा हनन करने की भावना का आन्तरिक भावों में अवभास भी नहीं होने दूं इस प्रकार मैं दृढ़संकल्प लेकर के चलूंगा तब मेरा प्रथम आचरण का कदम होगा अहिंसा। न हिंसा-अहिंसा यहां भगवान् ने विधेयात्मक और निषधात्मक दोनों प्रकार की अहिंसा को धर्म रूप प्ररूपित किया है। प्रत्येक प्राणी की हिंसा नहीं करना निषेधात्मक अहिंसा है तथा हिंसक द्वारा हिंसा किये जाने वाले प्राणी यथाशक्ति रक्षा करना या उसमें श्रद्धा रखना विधेयात्मक अहिंसा है। अहिंसा के इन दोनों रूपों को अपनाना ही वास्तविक अहिंसा धर्म है।

वस्तुतः अहिंसा विधेयात्मक और निषेधात्मक इन दोनों पक्षों को मानने पर ही अहिंसा शब्द की परिपूर्ण व्याख्या घटित होती है क्योंकि अहिंसा शब्द नञ् समास से बना है। यथा—न हिंसा अहिंसा। नञ् समास में नञ् दो प्रकार का होता है—(१) पर्युदास और (२) प्रसज्यक। इसमें पर्युदास नञ् सदृशग्राही होने से उसमें तद्भिन्न तत्सदृश का ग्रहण होता है तथा प्रसज्यक नञ् निषेध अर्थ का ग्राहक होता है अतः पर्युदास नञ् की अपेक्षा से अहिंसा का अर्थ होगा— हिंसा से मारे जाते हुए प्राणी को बचाना तथा प्रसज्यक नञ् की अपेक्षा से अहिंसा का अर्थ होगा— हिंसा नहीं करना। इस कथन को एक दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है। जैसे—कोई सम्राट अपने दीवान

को आदेश देता है—

'अब्राह्मणमान्य' अर्थात् अब्राह्मण को लाओ।

दीवान सम्राट का आदेश सुनकर पत्थर लाकर कहता है—

'लीजिए हुजूर, यह अब्राह्मण लाया हूं।'

सम्राट कहता है—'मूर्ख ! यह अब्राह्मण नहीं है। अब्राह्मण का तात्पर्य है—ब्राह्मण भिन्न ब्राह्मण सदृश कोई मनुष्य। अतः ऐसे किसी क्षत्रियादि अब्राह्मण को लाओ। इसी प्रकार पर्युदास नञ् समास युक्त अहिंसा का तात्पर्य हिंसा पूर्वक मारे जाते हुए प्राणी की यथा-शक्य रक्षा करना। इस प्रकार की रक्षा रूप अहिंसा को भगवान् ने धर्म माना है और प्रभु ने सम्पूर्ण जगत् के जीवों की रक्षा के लिए ही प्रवचन फरमाया है। पर इस अहिंसा की पवित्र भावना को सदा के लिए पवित्र रखने हेतु मुझे दूसरा चरण जीवन में लाना होगा वह चरण है सत्य अर्थात् विधि निषेध रूप असत्य नहीं बोलना सत्य बोलना विधि है। असत्य नहीं बोलना निषेध रूप सत्य है। विधि निषेध रूप सत्य के पालन बिना मैं अपनी चैतन्य आराधना की विधि आरा-धित नहीं कर सकता अतः दूसरा संकल्प है सर्वथा तीन करण तीन योग से असत्य नहीं बोलना इस दूसरे चरण रूप द्वितीय महाव्रत सत्य का पालन किया जाना उचित है क्योंकि असत्य बोलना भी प्रकारान्तर से हिंसा ही है। इस प्रकार असत्य के प्रयोग से दूसरे को धोखा देता है वह वास्तव में अपने आपको धोखा देता है।

इन दोनों महाव्रतों का निर्वाह बिना अचौर्य महाव्रत ग्रहण किए नहीं हो सकता। अतः तीसरा महाव्रत ग्रहण करना भी साधु का कर्त्तव्य बन जाता है। अचौर्य महाव्रतधारी साधु अन्य के अधिकार की यत् किञ्चित वस्तु को आवश्यकता पड़ने पर भी उसकी अनुमति के बिना ग्रहण करने को चौर्य दोष मानता है और मानता है कि मैं अपनी आत्मा को चुरा रहा हूं अर्थात् मेरी चैतन्य आराधना के मार्ग को समाप्त कर रहा हूं।

चतुर्थ व्रत ब्रह्मचर्य है। इसको स्वीकार करने वाला साधु आत्मिक शुद्धि के विकास में अर्गला रूप सांसारिक विषय-वासनाओं की श्रृंखला का त्याग करता है। यह महाव्रत सम्पूर्ण महाव्रतों की

पालना में मेढ़ीभूत होने से इस पर किञ्चित् विस्तार से विचार किया जाता है। साधु ब्रह्मचर्य की नवबाड़ का पालन करता हुआ जगत् की समस्त नारियों को माता और बहिन के तुल्य मानता है। स्व से भिन्न शरीरादि के प्रति आसक्ति रखना और उसको ग्रहण करने की चाह रखना ये ब्रह्मचारी साधक के लिए घातक एवं महाव्रत को खण्डित करना है।

यह वस्तुतः स्व को भूलना है क्योंकि स्व का आनन्दघन स्वरूप पर पदार्थ निरपेक्ष है और शरीर, पर पदार्थ है। उस शरीर सापेक्ष वृत्ति से सुख की कल्पना करना अज्ञानता का पोषक है, क्योंकि शरीर पर पदार्थ है उस पर पदार्थ के अधीन बनकर पराधीन सुख वास्तविक कैसे हो सकता है? फलतः शरीर सापेक्ष सुख की कामना से कर्मों से दूर होना तो दूर रहा लेकिन अनेकानेक कर्मों का उपार्जन होता है क्योंकि जो जन्म देता है वह जन्म ग्रहण करता है और जन्म ग्रहण करने की अवस्था आत्मा के लिए अत्यन्त दुःखदायी है। अतः अब्रह्म का त्याग कर परिपूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन वास्तविक सन्त करता है।

ब्रह्मचर्य का पालन भी अपरिग्रही कर सकता है क्योंकि सम्पूर्ण पापों का मूल परिग्रह कहा गया है। अतः कनक कान्ता भी परिग्रह रूप होने से उसका परित्याग करने वाले साधक के लिए अपरिग्रह नामक इस पञ्चम महाव्रत को धारण करना सर्वथा आवश्यक है। इससे वह आत्मा के निज स्वरूप से भिन्न पदार्थ धन–धान्यादि पर आसक्ति न रखता हुआ स्वयं को स्व पर केन्द्रित करता है क्योंकि परिग्रह पर आसक्ति की भावना रखने से आगामी जन्म की आयुबन्ध के समय भी वह उस भावना से मुक्त नहीं रह सकता परिणामस्वरूप उसी पदार्थ से सम्बन्धित एकेन्द्रियादि जाति के जन्म-मरण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। इसलिए शुद्ध आत्मा को लक्ष्य करके चलने वाला साधक शरीर एवं शरीर की प्रसाधन सामग्री के प्रति भी अपने आपको निर्लिप्त रखने का प्रयत्न करता है। स्व की साधना करने वाला वह साधक शरीर में रहने वाली सभी आत्माओं को आत्मिक दृष्टि से अपनी आत्मा के तुल्य समझता है तथा उनके प्रति आत्म तुल्य व्यवहार करता है। परिणामस्वरूप वह स्वयं अपने आपको आत्मिक

गुणों की सुगन्ध से भर लेता है और जो साधक आत्मिक गुणों की सुगन्ध से लबालब भर जाता है उसकी वह आन्तरिक शुद्धि सम्बन्धी प्राणवायु अन्य प्राणियों के लिए वरदान स्वरूप बन जाती है।

इस प्रकार जो पांच महाव्रत का परिपूर्ण रूप से पालन करता हुआ पांच समिति, तीन गुप्ति के द्वारा अपनी जीवन चर्या गतिशील करता है वही वस्तुतः साधु है और उसी साधक को नमस्कार महामंत्र के पांचवें पद से नमस्कार किया गया है। साधक उस रीति से स्वयं का कल्याण करता हुआ अन्य जीवों का भी कल्याण उसी प्रकार कर देता है जिस प्रकार बगीचे में पुष्प स्वयं विकसित होता हुआ सभी के लिए सुरभित पराग लुटाता है और जीवन प्रदान करने वाली प्राणवायु उनके लिए छोड़ता है। इसी प्रकार साधु पांच महाव्रतों को ग्रहण कर स्वयं की आत्मा को शान्ति पहुंचाता है और अपने माध्यम से अनन्त जीवों को भी शान्ति की अनुभूति प्रदान करता है। यह उसके अनन्तर की सुगन्ध आन्तरिक जीवन का पोषण करने वाली है। इस प्रकार अपना और अन्य जीवों का भी कार्य सिद्ध होता है। इस प्रकार साधु शब्द की व्युत्पत्ति सार्थक होती है। इससे भिन्न जीवन पद्धति वाला साधु नहीं कहला सकता।

नवकार मन्त्र का चतुर्थ पद—"णमो उवज्झायाणं" भी साधु से सम्बन्धित है। जबकि पञ्चम पद का साधक पदवी रहित होता है। चतुर्थ पद का साधु 'उपाध्याय' की पदवी से युक्त होता है। दोनों की साधुता में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। उपाध्याय चतुर्विध संघ का अध्ययन–अध्यापन आदि रूप कार्य करता है। वह २५ गुण एवं अनेक उपमाओं का धारक होता है। इस प्रकार पञ्चम पद की गरिमा से चतुर्थ पद की गरिमा विशिष्टतर दीखती है। चतुर्थ पद से भी तृतीय पद की गरिमा अधिक है यद्यपि तृतीय पद में वर्णित आचार्य भी मूलतः साधु ही है तथापि जिनेश्वर देवों ने अपना समग्र उत्तरदायित्व इस तृतीय पद को समर्पित किया है।

इस प्रकार चतुर्विध संघ के नायक आचार्य के अधीनस्थ ही समस्त साधु-साध्वियों की शासन व्यवस्था होती है। आचार्य के विना संघ में नव डहर–तरुण साधुओं को रहना नहीं कल्पता है। इस प्रकार

से विशिष्ट महिमाधारी आचार्य साधु पद को अधिक महिमामय बना देते हैं।

आचार्य के बाद सशरीरी साधु के परिपूर्ण चरम विकास की अवस्था है अरिहन्त। नवकार मन्त्र के प्रथम पद में इसी अरिहन्त साधु को नमस्कार किया गया है। जो साधक समग्र घन घाती कर्म-जनित विषय विकारों को समूल नष्ट कर देने पर केवलज्ञान, केवल-दर्शन एवं अनन्तवीर्य शक्ति प्राप्त कर लेता है वही अरिहन्त पद से सुशोभित होता है। अरिहन्त अवस्था प्राप्त साधक परिपूर्ण केवल ज्ञान-दर्शन से युक्त होता है।

अरिहन्त अवस्था प्राप्त साधक जब सम्पूर्ण कर्मों को क्षय कर सदा सर्वदा के लिए मुक्त अशरीरी कर्म रहित अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो उसे "सिद्ध" शब्द से सम्बोधित किया जाता है। नवकार मंत्र के दूसरे पद "णमो सिद्धाण" में इसी अशरीरी साधु को नमस्कार किया गया है।

इस प्रकार नवकार मन्त्र के तीन पद साधु, उपाध्याय, आचार्य पद छद्मस्थ साधु का अरिहन्त पद केवली साधु का और सिद्ध पद अशरीरी साधु का है। इनमें पूर्व-२ की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के पद विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार विशिष्ट गुण सम्पन्न चैतन्य आत्माओं को नम-स्कार इस नवकार मंत्र में किया गया है। अन्य किसी को नहीं। अतः इससे ज्ञात होता है कि चैतन्य की आराधना ही जैन धर्म का मूल लक्ष्य रहा है। परिपूर्ण चैतन्य शक्तियों को उजागर करने वाले तीर्थंकर देवों ने इसी धर्म का ही प्रकटीकरण किया है। इन्हीं के द्वारा प्रदर्शित मार्ग ही परिपूर्ण साधना के शिखर पर पहुंचने की दृष्टि से युक्ति-युक्त है। यहां यह दृष्टव्य है कि तीर्थंकर देवों ने जड़तत्त्व की आराधना को मोक्ष का मार्ग नहीं कहा है। अन्यथा नवकार मन्त्र के पांच पद न होकर छह पद होने और छठा पद होता 'णमो पडिमाणं' लेकिन इस छठे पद का उल्लेख नहीं होना इस बात को सिद्ध करता है कि चैतन्य की आराधना ही मोक्ष का मार्ग है। इसलिए तीर्थंकरों ने चैतन्य के गुणों की वृद्धि के लिए चैतन्य द्वारा आचरित किये जाने

योग्य ही मोक्ष मार्ग को प्रदर्शित किया है। वह मार्ग है—सम्यक्ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप त्रिपुटी का। चैतन्य आराधना के ये तीनों घटक ही मोक्ष के मार्ग है ऐसा निरुपित करते हुए तत्त्वार्थ में कहा गया है—

"सम्यक्दर्शन ज्ञानचारित्रात्रि मोक्षमार्गः"

अतः न मात्र दर्शन मोक्ष का मार्ग है न ज्ञान और न ही ज्ञानदर्शन इन दोनों से शून्य चारित्र अपितु ये तीनों मिलकर ही मोक्ष के मार्ग हैं कहा भी है—

"नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं ॥"

(उ. अ. २८ गा. २)

मोक्ष का यह मार्ग सर्वोत्कृष्ट साधक अरिहन्त तीर्थंकर द्वारा दिया गया होने से इसे साधु मार्ग भी कहा जाता है। इसकी व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है—

"साधोः आगतः मार्गः साधुमार्गः"

अर्थात् अरिहन्त साधु से प्राप्त मार्ग साधुमार्ग है। वर्तमान में प्रचलित इस साधुमार्ग के प्राचीनतम धर्म प्रवर्त्तक ऋषभदेव माने जाते हैं। उन्होंने केवलज्ञान होने के बाद अपने केवलालोक से अनादिकाल से चली आ रही इस शाश्वत साधुमार्ग की परम्परा को अभिव्यक्त किया। उनके बाद निरन्तर तीर्थंकरों का एवं आचार्यों की पाट परम्परा का क्रम चालू रहा। इसी क्रम में अन्तिम धर्म प्रवर्तक प्रभु महावीर हुए। इस प्रकार सभी तीर्थंकरों ने अपने ज्ञान के प्रभाव से उसी साधुमार्ग की शाश्वत परम्परा को अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान रहने में सहयोग दिया।

इन तीर्थंकरों ने साधुमार्ग की भव्य पद्धति को जनता के समक्ष रखने के लिए साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की। अपने जीवनकाल में वे स्वतः चतुर्विध संघ पर शासन करते रहे लेकिन बाद में उन्होंने उस उत्तरदायित्व को आचार्यों के बलिष्ठ कन्धों पर डाल दिया। श्रमण संस्कृति के रक्षक आचार्य—

वर आज भी तीर्थंकरों द्वारा प्राप्त इस साधुमार्ग की शाश्वत परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील है।

इस प्रकार साधुमार्ग के प्रदाता अनन्त तीर्थंकरों ने स्वयं चैतन्य की उपासना और आराधना की तथा इसी आराधना को भली-भांति जनसामान्य तक पहुंचाने के लिए उन्होंने जड़ चैतन के भेद विज्ञान का विशद विवरण आगमों में प्रस्तुत किया। यहां तक कि सामायिक आदि ग्रहण करने की पाटियों में भी जड़ से ध्यान हटाकर चैतन्य की उपासना करने का मार्ग प्रस्तुत किया है। इतना ही नहीं सामायिक की विधि में इच्छाकारेणं तस्सुत्तरी आदि जिन-२ पाटियों का उच्चारण किया जाता है उन सभी में भी जड़ तत्त्वों से ध्यान हटाकर चैतन्य तत्त्व की आराधना करने का शुभ संकल्प किया जाता है। इनमें किस प्रकार चैतन्य की आराधना का मार्ग प्रदर्शित है इसको जानने के लिए इन पर विस्तार से विचार करते हैं। अतः इसका प्रारम्भ सामायिक ग्रहण करने की पाटी करेमि भन्ते से करते हैं। जो आत्माएं परिपूर्ण साधना करना चाहती हैं वे जीवन पर्यन्त की सामायिक जिस करेमि भन्ते! की पाटी से अंगीकार करती हैं, वह इस प्रकार है—"करेमि भन्ते! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्च-खामि जाव-जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए, काएणं न करेमि, न कारवेमि, करतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भन्ते पडिक्कमामि निंदामि, गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

इस पाठ से समस्त "सावद्य" अनुष्ठानों का परित्याग कर आश्रवों का निरोध कर संवर की प्रवृत्ति सहित चैतन्य की आराधना रूप चारित्र की अवस्था प्रारम्भ होती है। जो आत्माएं जीवनपर्यन्त इस सामायिक को ग्रहण नहीं करती उनके लिए ४८ मिनिट की सामा-यिक का विधान भी तीर्थंकर देवों ने किया है। उसको अंगीकार करने का सूत्र इस प्रकार है—

"करेमि भन्ते! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव नियम पज्जुवासामी दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा, वायसा, कायसा तस्स भन्ते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

इन दोनों सामायिकों को ग्रहण करने से पूर्व कुछ ऐसे सूत्रों

का उच्चारण भी किया जाता है, जिससे आत्मा पूर्वकृत पापों से विलग हटती है और चेतना का ऊर्ध्वारोहण होता है। उनमें से सर्वप्रथम ईर्यापथिक की पाटी का उच्चारण किया जाता है। इस पाटी की चैतन्य आत्मा के स्वरूप के सन्दर्भ में व्याख्या की जाती है—

"इच्छाकारेणं संदिस्सह भगवं ! इरियावहियं पडिक्कमामि। इच्छं इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए गमणागमणे पाण-क्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे, ओसा, उत्तिंग, पणग-दग-मट्टी मक्कडा, संताणा संकमणे, जे मे जीवा विराहिया एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाण संकामिया, जीवियाओ ववरोविया तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अर्थात् गमनागमन सम्बन्धी प्रवृत्ति के कारण किसी भी आत्मा को मैंने आघात पहुंचाया हो अथवा उसके प्राण नाशक कार्य किए हों तो ज्ञात-अज्ञात रूप से किया गया यह दुष्कृत मिथ्या होवे। मेरी आत्मा इस पाप से विलग बन जाये। पापों से विलग आत्मा ही परि-पूर्ण साधना में लीन बन सकती है। अतः आत्मा में लेशमात्र भी पाप सम्बन्धी भावना न रहे, एतदर्थ दूसरी पाटी का उच्चारण किया जाता है—

तस्स उत्तरी करणेणं, पायच्छित्त करणेणं, विसोहिकरणेणं, विसल्ली करणेण, पावाण, कम्माण, निग्घाय णट्ठाए, ठामि काउस्सग्गं। अन्नत्थ ऊससिएणं, नीससिएणं, खासिएणं छीएणं, जंभाइएणं, उड्डुएण, वायनिसग्गेणं, भमलीए, पित्तमुच्छाए, सुहुमेहिं, अंग सचालेहिं, सुहुमेहिं खेल संचालेहिं, सुहुमेहिं दिट्ठि सचालेहिं, एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहियो हुज्ज मे काउसग्गो जाव अरिहंताण, भगवंताण नमोक्का-रेणं न पारेमि ताव काय ठाणेण मोणेणं झाणणं अप्पाणं वोसिरामि।

इस पाटी से पूर्व की पाटी का गहरा सम्बन्ध जोड़ते हुए कहा गया है कि पहले जो पाप किया है, उसकी इच्छाकारेण से यद्यपि आलोचना कर ली गयी तथापि उसके उपरान्त भी यदि किसी भी प्रकार का पाप आंशिक रूप से भी मन में है तो उसका उत्तरीकरण करने के लिए अर्थात् दुष्कृत को मिथ्या करने के लिए पुनः उपक्रम करता हूं। यथा—

जैसे मनुष्य गन्दे कपड़े को स्वच्छ बनाने के लिए पहले उन्हें धोता है और तत्पश्चात् उन कपड़ों में रहे हुए सल को निकालने के लिए इस्तरी करता है वैसे ही सावद्य अनुष्ठानों का त्याग करने वाला चैतन्य आत्मा पहले लगे हुए पाप मैल को दूर करने के लिए 'इच्छाकारेण' से उन पापों की धुलाई करता है, तत्पश्चात् यदि उस पापों की धुलाई में सल रह गया हो तो उस पाप रूप सल को निकालने के लिए इस्तरी रूप तस्सुत्तरी की पाटी का उच्चारण करता है। इन दोनों पाटियों में चैतन्य की शुद्धि रूप आराधना की गयी है। इस प्रकार चैतन्य आराधना द्वारा पाप शुद्धि का कार्य सशरीरी आत्मा ही कर सकती है। अतः शारीरिक दृष्टि से जो प्रक्रियाए— यथा—श्वास लेना, जम्भाई लेना, दृष्टि कम्पनादि इनको पूर्णतया रोका नहीं जा सकता है, इनका 'आगार' रखकर ही मैं आगे आत्म-साधना में सलग्न बनूंगा।

इन १२ आगारों के अतिरिक्त भी 'एवमाहिएहिं' का उच्चारण करके यह भी सूचित किया है कि आत्म-शुद्धि में संलग्न बनने के लिए दृष्टि बन्द नहीं की हो तो उसको सम्पन्न करके "ताव कायं!" ठाणेणं मोणेण झाणेणं अप्पाण वोसिरामि का उच्चारण कर सकते हैं।

ध्यान की दो प्रक्रिया है आंख खुली रखकर ध्यान करना और बन्द रखकर ध्यान करना। इन दोनों अवस्थाओं में यदि ज्ञात हो जाये कि एक जीव दूसरे का हनन कर रहा है और ध्यान के मध्य में उठने से जीव रक्षा का प्रसंग समाहित हो सकता है तो ध्यान-कर्ता बीच में ही उठ जाये और जीव रक्षा का कार्य करके पुनः ध्यान में बैठ जाये तो उसका ध्यान टूटता नहीं है क्योंकि 'एवमाहिएहिं' शब्द द्वारा इसका भी आगार फलित होता है। जहां जो 'अप्पाणं वोसिरामि' शब्द आया है उसका तात्पर्य है आत्मा को वोसिराता हूं। प्रश्न उत्पन्न होता है कि आत्मा को वोसिराने पर ध्यान किसका किया जायेगा ? उत्तर स्पष्ट है कर्म, नो कर्म युक्त रूपी आत्मा को वोसिराना उच्चारणकर्त्ता का लक्ष्य है क्योंकि उसी का वोसिराना सम्भव है। योग की स्थिरता आये बिना शुद्ध आत्मिक स्वरूप का चिन्तन बन नहीं पाता। अतः मन, वचन, काया रूप द्रव्य योगों में निरन्तर उपयोग रखने वाली रूपी आत्मा को ही यहां पर वोसिराया

गया है ।

यहां पर योग यद्यपि चेतन के सम्बन्ध से चेतन रूप बने हुए हैं तथापि वे स्वभावतः जड़ ही हैं और इन्हीं जड़ योगों में आसक्ति रखने वाली आत्मा निरन्तर संसार परिभ्रमण करती है इसलिए जड़ और चेतन के भेद को समझकर शास्त्रकारों ने जड़ की आसक्ति से युक्त आत्मा को वोसिराकर मात्र चैतन्य आत्मा का ही ध्यान करने का संकेत इस पाटी के मध्यम से किया है । तात्पर्य यह है कि यह पाटी साधक को जड़ चेतन के साथ संयुक्त रहने वाली आत्मा को जड़ से विलग कर जड़ रहित चैतन्य आत्मा जो कि सिद्ध गति में हैं उसको प्राप्त करने के उद्देश्य से ही जड़ चेतन में रमी हुई आत्मा को उस चैतन्य आराधना के समय में छोड़ता हूं । ऐसा संकल्प कराती है । ये पाटी तीर्थंकर देवों के सामायिक सम्बन्धी विधि रूप में आई हुई है । इससे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि शुद्ध चैतन्य स्वरूप सिद्ध अवस्था की झलक वाली आत्मा की आराधना चैतन्य आराधना है यद्यपि उस चैतन्य आराधना की परिपक्वता के लिए रूपी शरीर रूप आत्मा में रहते हुए साधना की जाती है । तथापि सिद्ध भगवान् की आराधना तक पहुंचने के लिए मन, वचन, काया जो कि रूपी आत्मा चैतन्य से युक्त है उस शुद्ध चैतन्य की आराधना के लिए जड़ रूप मन वचन योग को भी वोसिराया जाता है उसका ध्यान छोड़ा जाता है और उस शरीर में रहने वाले शुद्ध चैतन्य का ध्यान किया जाता है । इस पद्धति से भगवान् ने स्पष्ट कर दिया है कि सामायिक की साधना के प्रारम्भ में भी चैतन्य आराधना का ध्यान लगा रहना चाहिए इससे यह स्पष्ट फलित होता है कि सर्वथा चैतन्य रहित जड़ रूप अवस्था का ध्यान करना ही नहीं चाहिए । यहां यह विचार उत्पन्न होता है कि जब साधना की विधि में योग आत्मा ही सहायक है तब फिर उसी आत्मा को वोसिराने का संकेत यहां क्यों किया गया है ?

जिज्ञासा के पीछे निगूढ रहस्य अन्तर्निहित है । तीर्थंकर देवों ने सम्यक दर्शन की स्वरूपोपलब्धि के लिए जड़ चेतन विज्ञान को ही महत्त्वपूर्ण आधार बनाया क्योंकि सम्यक् दर्शन से तात्पर्य है कि जड़ चेतन भेद का ज्ञान करना । हमारी आत्मा अनादिकाल से इसलिए संसार सागर में भटक रही है कि उसने अभी तक जड़ और चेतन का

भेद परिपूर्ण रूप से नहीं जाना है। इस भेद विज्ञान को जानने से स्वरूप स्पष्ट हो सकता है। आत्मा कर्मों की निगूढ़ श्रृंखला से छुटकारा प्राप्त कर परिपूर्ण विकास को प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार मन, वचन, काया रूप पौद्गलिक द्रव्य योगों से ध्यान हटाकर शुद्ध आत्मा की ओर ध्यान केन्द्रित करने का निर्देश दिया है। इससे जड़ के प्रति मनुष्य का लक्ष्य न रहकर चैतन्य ही आराधना का लक्ष्य बनेगा। यद्यपि योगात्मा सत्पुरुषार्थ में निमित्त है तथापि परिपूर्ण विकास के लिए उसका त्याग उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार तीर पर पहुंचने के लिए नौका का त्याग आवश्यक होता है। इस प्रकार सामायिक की सम्पूर्ण विधि में चैतन्य की ही आराधना की गयी है। चैतन्य आराधना की प्रयोगात्मक अवस्था हम तीर्थंकर देवों के जीवन में भी देख सकते हैं।

तीर्थंकर देव स्वयं अयोगी शुद्ध आत्मधन का ही आश्रय ग्रहण करते हैं एतदर्थ वे दीक्षा अंगीकार करते समय भी 'णमो सिद्धाणं' का उच्चारण करते हैं। तीर्थंकरों का स्वयं का लक्ष्य योग सहित आत्मा से ध्यान हटाकर अयोगी रूप अवस्था प्राप्त करने का ही है। अपने इसी लक्ष्य के अनुरूप वे सिद्धों को नमस्कार करते हैं। दीक्षा के पश्चात् तीर्थंकर महाप्रभु अनेक उपसर्गों का सामना करते हैं उस समय उनका ध्यान चैतन्य शुद्धि की तरफ केन्द्रित होता है अन्यथा योगों की तरफ ध्यान होता तो मनोवर्गणा की सम्प्रेषण शक्ति से उपसर्ग देने वाले के हाथ-पैर स्तब्ध कर सकते हैं लेकिन वे ऐसा नहीं करते। इस प्रकार योगत्रय से निरन्तर ध्यान हटाकर वे केवलज्ञान प्राप्त करने की ओर उन्मुख होते हैं और केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। और इसी चैतन्य की उपलब्धि के बाद उसी की आराधना, उपासना और आत्म शुद्धि के लिए भव्यात्माओं के लिए योगत्रय से ध्यान हटाकर चैतन्य की ओर ध्यान केन्द्रित करने हेतु 'कायोत्सर्ग' की विधि प्रदान करते हैं।

इस कायोत्सर्ग में सयोगी छद्मस्थात्मा पौद्गलिक रचना रूप योगों से ध्यान हटाकर चैतन्य का ही ध्यान करे। ऐसा निर्देश आगमों में तीर्थंकर देवों ने प्रदान किया है लेकिन सर्वथा चैतन्य शून्य जड़ रचना रूप आकृति के ध्यान करने का कहीं निर्देश नहीं मिलता है। इसके पीछे यह हेतु रहा है कि चैतन्य शून्य तत्त्व का ध्यान करने पर,

ध्यानस्थ आत्मा यदि उसमें तन्मय हो जाये और संयोगवश आगामी भव का आयुबन्ध हो जाये तो एकेन्द्रिय जाति के अन्तर्गत पृथ्वीकायादि का आयुबन्ध हो सकता है। अतः आत्मा स्वशुद्धि लक्ष्य को भूल न जाये एतदर्थ तीर्थंकर देवों ने मात्र चैतन्य का ही ध्यान, उसी की उपासना और आराधना की पद्धतियां आगमों में वर्णित की है।

चैतन्य शून्य तत्त्व की आराधना तो आत्म विकास की शृंखला में अर्गला रूप बन सकती है। यहां तक कि उसका उपदेश भी आत्म तत्त्व विकास में बाधक है क्योंकि पौद्गलिक आकृतियों के निर्माण में सावद्य व्यापार होता है और आत्मशुद्धि का लक्ष्य लेकर चलने वाला परिपूर्ण त्यागी ऐसा उपदेश नहीं देता इसीलिए तीर्थंकर देवों ने आगमों में ऐसा उपदेश नहीं दिया। जब तीर्थंकरों का चैतन्य शून्य तत्त्व की आराधना करने का उपदेश ही नहीं है तब उसकी आराधना करने वाले, उनके उपदेशों के अनुसार चलने वाले श्रावक भी इसको कैसे अपना सकते हैं!?

तीर्थंकर देव इस बात को भलीभांति जानते थे कि प्रत्येक भक्त का लगाव आत्मा से होने से पहले द्रव्ययोग रूप शरीर से अधिक होता है क्योंकि आत्मा निराकार है तथा योगरूप शरीर साकार है। इस साकार तत्त्व की उपासना भावुकजन न करने लग जायें इसके लिए उन्होंने आत्मिक शक्तियों का प्रतिपादन कर उसी का ध्यान करने हेतु निर्देश दिया है। तीर्थंकरों ने स्वयं सावद्य योगों का त्याग किया था लेकिन कोई भी भावुकजन यदि तीर्थंकरों के निर्वाण के बाद उनके आत्मप्रदेशों से रहित शरीर की आकृति को देखकर अथवा परिकल्पना कर वैसी ही पाषाणमय आकृति बनाये और उसको वन्दन, पूजन आदि करे तो वह प्रभु महावीर के वचनानुसार कैसे चलता है? कैसे चैतन्य की आराधना कर सकता है? यह चिन्तन का विषय है क्योंकि तीर्थंकर देव तो योगात्मा सहित शरीर से भी ध्यान हटाने का उपदेश देते हैं तब मात्र पौद्गलिक आकृतियों का ध्यान, वन्दन, पूजन साधक कैसे कर सकता है?

साथ ही जिन श्रावकों ने १२ व्रत अंगीकार कर लिए वे इस अनर्थादण्ड रूप प्रवृत्ति को कैसे अपनायेंगे? क्योंकि अनर्थदण्ड का

त्यागी श्रावक अपनी मजबूरीवश गृहस्थ जीवन को चलाने के लिए आरम्भ-समारम्भ रूप अर्थादण्ड करता है किन्तु व्यर्थ में पौद्गलिक आकृतियों को बनाने का उपदेश देना और धूप, दीप, नैवेद्य आदि सचित्त पदार्थों से उसकी पूजा करना यह अर्थादण्ड की श्रेणि में नहीं आता है क्योंकि इन सबके बिना भी उसके प्राण पोषण में कोई बाधा नहीं आती। जैसे अत्यन्त तृषा से पीड़ित श्रावक यदि पानी नहीं पीयेगा तो उसके प्राण चले जायेंगे। अतः वह तृषा शमित करने हेतु एक लोटा पानी मांगता है उसमें से पीने के बाद थोड़ा-सा भी पानी अवशेष रहा और व्यर्थ जमीन पर डाल दिया तो वह भी अनर्थदण्ड है। वैसे ही व्यर्थ में पौद्गलिक रचना रूप आकृतियां बनवाना और उनकी सावद्य पदार्थों से पूजा करना यह भी अनर्थादण्ड है। अनर्था-दण्ड का सेवन करने से बारह व्रतधारी श्रावक का व्रत भंग होता है तथा ऐसा करने वाला श्रावक भगवान् की आज्ञा का आराधक भी नहीं हो सकता।

इस सन्दर्भ में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि भगवान् महावीर स्वामी जिस समय विद्यमान थे, उस समय उन्होंने गौतम से कहा था 'हे गौतम ! जो मेरा शरीर तुम्हें दिख रहा है, वह जिन नहीं है और जो जिन (आत्मा) है वह तुम्हें दिख नहीं रही है लेकिन अनेक नयों से युक्त मेरा मार्ग साधुमार्ग तुम्हें दिख रहा है, उस पर चलने का प्रयत्न करलो, मुक्ति मिल जायेगी।[1] इससे स्पष्ट है कि जिनेश्वर देव के विद्यमान रहते हुए ही उनका स्वयं का शरीर जिन-रूप नहीं था। अतः उसकी उपासना करने का उपदेश तीर्थंकरों ने नहीं दिया था।

इस प्रकार जैन धर्म में चैतन्य की आराधना को ही प्रधानता दी गयी है और उसी की आराधना करने हेतु ज्ञानदर्शन और चारित्र का मार्ग जिनेश्वरों ने प्रदर्शित किया है जिसके माध्यम से ही चैतन्य का परिपूर्ण विकास हो सकता है। यह ध्यान में रखने की बात है

---

१ न हु जिणे अज्ज दीसई, बहुमए दीसइ मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ उ/१०/३/

कि इसमें भी कहीं भी चैतन्य से इतर तत्त्वों की आराधना को किञ्चित् मात्र भी महत्त्व नहीं दिया। इस सम्बन्ध में कोई यह तर्क करे कि बच्चों को निराकार तत्त्व का बोध प्रारम्भ में कराया नहीं जा सकता। अतः काल्पनिक आकृति के द्वारा बच्चों को बोध कराया जाता है, उसी प्रकार हमें भी साकार उपासना करने में सुविधा की अनुभूति होती है तो यह कथन भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता क्योंकि प्रारम्भ में बच्चे को सही ज्ञान देने वाला पिता अपने कर्त्तव्य का पालन करता है किन्तु विपरीत ज्ञान देने वाला पिता कर्त्तव्य को भूलकर अपनी सन्तान को गलत रास्ते पर ले जाता है। जैसे व्यावहारिक जगत् में कोई पिता अपने बच्चे को रेत का कण देकर कहे कि बेटा! यह तिल का दाना है इसमें तैल निकलता है और वह बच्चा उस रेत को तिल का दाना समझकर पीलता रहे तो उसे तैल नहीं मिलता। जब उसे ज्ञान प्राप्त होता है और वह समझ जाता है कि रेत से तैल नहीं निकल सकता तब उसे ध्यान आता है कि मेरे पिता ने मुझे सही ज्ञान नहीं दिया है। परिणाम स्वरूप मुझे ऐसा संकट झेलना पड़ा। ऐसा पिता जिस प्रकार पुत्र को सही मार्ग दर्शन देने वाला नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार असत् आकृतियों से पुत्र को ज्ञान कराने वाला पिता भी पुत्र का उपकारी नहीं कहा जा सकता।

इसके विपरीत जो पिता अपने बच्चे को तिल दिखाकर कहे देख बेटा! इसको पीलने से तैल निकलता है। वह पिता तिल के एक दाने को नाखून लगाकर दिखलाता है कि देख जैसे इस तिल को नाखून लगाने से नाखून पर चिकचिकाहट का आ जाती है वैसे ही समस्त तिलों को पीलने से तैल निकलता है। वह बच्चा बड़ा होकर तिल पीलता है और तैल प्राप्त कर पिता की शिक्षा का परम उपकार मानता है। सोचता है पिताजी मुझे वास्तविक ज्ञान देने वाले हैं। वह बालक पिता के प्रति श्रद्धावान् बन जाता है। उसी प्रकार बालकों को प्रारम्भ में ही ऐसा असत् ज्ञान क्यों कराया जाये? जिससे उसका सम्पूर्ण जीवन अन्धकारमय बना रहे।

इस सन्दर्भ में यदि अबोध अथवा अल्पज्ञानी बालक को निराकार चैतन्य का ज्ञान कराना है तो भी अन्य सत्य मार्ग से भी उसे यह ज्ञान कराया जा सकता है। बच्चा जब थोड़ा समझने लगे, बोलने

लगे तब उस बच्चे को मुर्दा बच्चा दिखाकर कहें कि देख बेटा ! जैसे तूं छोटा है वैसे यह भी है । तूं तो बोलता है चलता है, खाता है, पीता है अतः तू इस बच्चे को भी बुलाने चलाने की कोशिश करे, तब वह बच्चा उस मुर्दे बच्चे को बुलाये और वह बच्चा नहीं आये तब उसका पिता उसे समझा सकता है कि बेटा ! तुम्हारे में और इस बच्चे में यही अन्तर है कि इसमें बोलने चलने की शक्ति प्रदान करने वाली आत्मा नहीं है और तुम में वह चैतन्य आत्मा विद्यमान है जिसके माध्यम से तुम समस्त क्रियाएं सम्पन्न कर रहे हो । तुम्हारी यह आत्मा अनन्त शक्तिशाली है । तुम अपनी इस आत्मा से परमात्मा भी बन सकते हो । इस प्रकार के सम्यक् ज्ञान से एक कर्त्तव्यनिष्ठ पिता अपने पुत्र को आत्म तत्त्व का ज्ञान करा सकता है यदि जड़ की पूजा करने से मोक्षमार्ग की उपलब्धि होती और सम्यक् बोध मिलता तो तीर्थंकर देव शक्रेन्द्र आदि देवगणों से अपने शरीर को रखने हेतु संकेत भी कर सकते थे । अथवा तीन ज्ञान के स्वामी शक्रेन्द्र स्वयं उस पौद्‌गलिक शरीर की पूजा को भव्यजन के लिए मोक्षमार्ग की आराधना पद्धति समझाते तो वे उस शरीर में वैक्रिय लब्धि से ऐसे शुभ पुद्‌गलों का प्रक्षेप करके रखते ताकि उसमें वर्षों तक विकृति पैदा न हो, जैसे अस्पताल में रासायनिक तत्त्वों में शरीर के अंगों को वर्षों तक विकृति रहित रखा जाता है । फिर उस अविकृत तीर्थंकर शरीर की पूजा प्रतिष्ठा करने का संकेत भव्यजनों को देते कि इसकी पूजा करो आत्मशुद्धि हो जायेगी । किन्तु तीर्थंकर देवों ने ऐसा संकेत नहीं दिया तथा उनके सिद्धान्तों को समझने वाले देवों ने भी ऐसा नहीं किया और नहीं कल्पित आकृतियां बनवाकर उस प्रकार से जनता को बोध दिया यहां एक तथ्य और ध्यान देने योग्य है कि इन वर्त- मान में प्रचलित कल्पित आकृतियों को देखकर आध्यात्मिक विकास की ओर ध्यान उन्मुख नहीं होता क्योंकि तीर्थंकर देवों की इन कल्पित आकृतियों को भी मुकुट, भुजबन्ध आदि जेवर पहिनाये जाते हैं । उसको देखकर सामान्यतः उनके जेवरादि युक्त सांसारिक मनुष्यों जैसे जीवन का ही मान होता है कि देखो तीर्थंकर देव भी जेवर पहनते हैं । ऐसी स्थिति में तीर्थंकर देवों की वे कल्पित आकृतियां अध्यात्म की साधना में सहायक नहीं होती अपितु पांच इन्द्रियों के विषय की भोग आकृ- तियां बनती है । अतः तीर्थंकर द्वारा प्रणीत शाश्वत साधुमार्गी परम्परा

में जड़ तत्त्व पूजा का प्रावधान नहीं है और इसीलिए प्रभु महावीर के समय की कोई भी प्रतिमा आज तक उपलब्ध नहीं हुई। यहां तक कि स्वयं प्रभु महावीर ने भी अपनी ध्यान साधना में जड़तत्त्व का अवलम्बन नहीं लिया। अपितु वे चैतन्य के विकास की यात्रा ही निरन्तर करते रहे, ऐसा वर्णन आचारांग सूत्र में मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि महावीर से पहले भी जड़तत्त्व पूजा का प्रावधान नहीं था और प्रभु महावीर के बाद भी कई वर्षों तक जैन धर्म में चैतन्य की आराधना के लिए ही साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका संलग्न रहे लेकिन जब जैन धर्म में शिथिलाचार का प्रवेश हो गया तब तात्कालीन परिस्थितियों में बौद्धों के समान जैनों में भी अपनी आराधना पद्धति में मूर्तिपूजा का समावेश कर लिया और धीरे–धीरे यह परम्परा विकसित होती गयी।

अस्तु ! प्रत्येक साधक, गृहस्थ इस चैतन्य आराधना का पठन, मनन, श्रवण कर आत्मशुद्धि हित चैतन्य आराधना करेंगे तो अपना पथ प्रशस्त कर निराकार निरंजन अवस्था का वरण करेंगे।

इत्यालम्



मैं उस एकता का पक्षपाती हूं:-

- जिसका निर्माण सैद्धान्तिक धरातल पर हो, अर्थात् मूलभूत सिद्धान्तों को सुरक्षित रखा जाता हो।
- जिसके निर्माण में सिद्धान्तों का सौदा-समझौता न किया जाता हो।
- जिसका निर्माण जिनाज्ञा के अनुरूप तथा चारित्र निष्ठा एवं अनुशासित व्यवस्था के आधार पर हो।
- जिसका निर्माण दिखावटी न हो, जिसके अन्दर में स्वार्थपरक क्षुद्र भावना छिपी हुई न हो, जिसका आन्तरिक एवं बाह्य स्वरूप एक हो।
- इस प्रकार की एकता के प्रति मैं प्रयत्नशील रहा हूं व प्रयास करते रहने की भावना है। फिलहाल संवत्सरी जैसे एक एक बिन्दुओं पर यदि हम एक होते गये तो एक दिन हमारी सार्वभौम एकता भी सिद्ध हो सकती है, अर्थात् बिन्दु से सिन्धु की यात्रा ही स्थायी एकता के लिए उत्तम मार्ग प्रतीत होता है। इस हेतु मेरा प्रयास रहा है, युवाचार्य श्री भी ऐसा प्रयास रखेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है।

---

००० ऐसी एकता के हिमायती परम श्रद्धेय चारित्र चक्रवर्ती, शासन सम्राट, समता विभूति

आचार्य श्री नानेश
